राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान संपादक—पुरातत्त्वाचार्य, जिनविजय मुनि

[सम्मान्य संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर]

ग्रन्थाङ्क २२

महामहोपाध्याय-श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेद-प्रणीतः

दुर्गापुष्पाञ्जलिः

प्रकाशक

राजस्थान राज्य संस्थापित

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर

Rajasthan Oriental Research Institute, Jaipur

जयपुर (राजस्थान)

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थान देशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावलि

प्रधान संपादक

पुरातत्त्वाचार्य, जिनविजय मुनि

[ऑनररि मेंबर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी]

सम्मान्य सदस्य

भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना; गुजरात साहित्य-सभा, अहमदाबाद;
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधनप्रतिष्ठान, होशियारपुर; निवृत्त सम्मान्य नियामक-
(ऑनररि डायरेक्टर)-भारतीय विद्याभवन, बम्बई.

ग्रन्थाङ्क २२

महामहोपाध्याय-श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेद-प्रणीतः

दुर्गापुष्पाञ्जलिः

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर

जयपुर (राजस्थान)

महामहोपाध्याय-श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेद-प्रणीतः

दुर्गापुष्पाञ्जलिः

संपादक एवं व्याख्याता
श्री गङ्गाधर द्विवेदी
साहित्याचार्य-व्याकरणतीर्थ-विद्यारत्न
व्याख्याता, महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर

प्रकाशनकर्त्ता
राजस्थान राज्याज्ञानुसार
संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर
जयपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१३] भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८७९ [खिस्ताब्द १९५७

प्रथमावृत्ति ❀ मूल्य ४)रु० २५ न०पै०

मुद्रक—प्रभात प्रेस, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित

कुछ विशिष्ट ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य ग्रन्थ—

१. प्रमाणमञ्जरी-तार्किक-चूडामणि-सर्वदेवाचार्य प्रणीत। तीन व्याख्याओं से समलङ्कृत।
२. यन्त्रराजरचना—जयपुरनरेश महाराज सवाई जयसिंह कारिता।
३. महर्षिकुलवैभवम्—विद्यावाचस्पति स्व० श्रीमधुसूदन श्रोझा विरचित।
४. तर्कसंग्रह फक्किका—पं० क्षमाकल्याणकृत।
५. कारकसंबन्धोद्योत—पं० रभसनन्दिकृत।
६. वृत्तिदीपिका-पं० मौनिकृष्णभट्टकृत।
७. शब्दरत्नप्रदीप—संक्षिप्त संस्कृत शब्दकोष।
८. कृष्णगीति—कविसोमनाथ-कृत गीतिकाव्य।
९. शृङ्गारहारावलि—हर्षकवि विरचित।
१०. चक्रपाणिविजयमहाकाव्यम्—पं० लक्ष्मीधरभट्ट-रचित।
११. राजविनोद महाकाव्य—कवि उदयराजविरचित।
१२. नृत्तसंग्रह—नाट्यविषयक पठनीय ग्रन्थ।
१३. नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग)—महाराणा-कुम्भकर्ण-प्रणीत।
१४. उक्तिरत्नाकर—पण्डित साधुसुन्दरगणीकृत।
१५. दुर्गापुष्पाञ्जलि—महामहोपाध्याय पं० श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी रचित।

राजस्थानी भाषा साहित्य ग्रन्थ—

१. कान्हडदे प्रबन्ध—कवि पद्मनाभ विरचित।
२. क्यामखां रासा—मुस्लिम-कवि जानकृत।
३. लावारासा—चारणकविया गोपालदानकृत।
४. बांकीदासरी ख्यात—चारणकवि बांकीदासरचित।

प्रेसों में छप रहे ग्रन्थ

(क) संस्कृतग्रन्थ—

१. त्रिपुराभारती लघुस्तव– लघ्वाचार्यप्रणीत।
२. शकुनप्रदीप–लावण्यशर्माकृत।
३. करुणामृतप्रपा–ठक्कुर सोमेश्वर विरचित।
४. बालशिक्षाव्याकरण– ठक्कुर संग्रामसिंह कृत।
५. पदार्थरत्न-मंजूषा– पं० कृष्णमिश्र निर्मित।
६. काव्यप्रकाश–संकेत– भट्ट सोमेश्वर कृत।
७. वसन्तविलास– फागुकाव्य (भिन्न-भिन्न वाचना विभूषित)
८. नृत्यरत्नकोश (द्वितीय भाग)–राजाधिराज महाराणा कुम्भकर्णदेव कृत।
९. नन्दोपाख्यान–(संस्कृत और राजस्थानी में)
१०. रत्नकोश– विविध-वस्तु-संग्रह-विचारात्मक।
११. चान्द्रव्याकरण– आचार्य चन्द्रगोमि-प्रणीत।
१२. स्वयंभू छन्द– स्वयंभू कवि रचित।
१३. प्राकृतानन्द– कवि रघुनाथ विरचित।
१४. मुग्धावबोध आदि विविध औक्तिक संग्रह।
१५. कवि कौस्तुभ– पं० रघुनाथ मनोहर निर्मित।
१६. दशकण्ठवधम्– महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी प्रणीत।
१७. कर्णकुतूहल नाटक तथा–
श्रीकृष्णलीलामृतकाव्य–महाकवि भोलानाथ विरचित।
१८. कविदर्पण– प्राकृत-छन्दोरचनात्मक ग्रन्थ।
१९. वृत्तजातिसमुच्चय– विरहाङ्ककविकृत।
२०. ईश्वरविलासमहाकाव्य– कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट कृत।

(ख) राजस्थानी भाषा ग्रन्थ–

१. मुंहता नैणसीरी ख्यात-जोधपुर के मुंहता नेणसी लिखित।
२. गोरा बादल पदमणी चउपई– जैनयति कवि हेमरतन कृत।
३. राठोड़वंश री विगत– राठोड़ों के इतिहास की कथाएँ।
४. राजस्थानी साहित्य संग्रह– राजस्थानी भाषा में लिखित विविध वृत्तान्त।
५. दाढाला एकल गिडरी वात–राजस्थानी भाषा की एक हास्यरस मिश्रित व्यङ्ग रचना।
६. सुजान-संवत्– कवि उदयराम रचित।
७. चन्द्रवंशावलि- कवि मतिराम कृत।
८. राजस्थानी दूहा-संग्रह।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं में रचे गये ग्रन्थों का संशोधन, संपादन आदि कार्य हो रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी उच्च कोटि के ग्रन्थों के प्रकाशन का आयोजन किया जा रहा है।

प्रकाशकीय वक्तव्य

राजस्थान जहां एक ओर अपनी शूरवीरता और आन-बान के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है वहां दूसरी ओर विद्या और कला के क्षेत्र में भी उसका पर्याप्त आदर और सम्मान है। यहां के विद्यानुरागी नरेशों ने अपनी गुण-ग्राहकता और उदारता के सहारे साहित्य-निर्माण और उसकी प्रगति में अच्छा योगदान किया है। मुख्यतः जयपुर, उदयपुर और बूंदी के महाराजाओं के दरबार तो विद्वानों, कवियों और कलाकारों के केन्द्र ही रहे हैं। यहां के नरेशों ने संस्कृत, व्रजभाषा और राजस्थानी तीनों ही के साहित्य की श्रीवृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

प्रस्तुत 'दुर्गा-पुष्पाञ्जलि' के रचयिता स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी, जयपुर राज्य के सम्मानित और प्रतिष्ठित विद्वान थे। उनका सारा जीवन संस्कृत-साहित्य की सेवा में ही व्यतीत हुआ था। उनकी कतिपय कृतियों को देखते हुये यह ज्ञात होता है कि वे वास्तव में विशिष्ट प्रतिभाशाली, उच्चकोटि के विद्वान, कवि और दार्शनिक थे। उनकी रचना में व्यापक पांडित्य और कवित्त्व-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। राजस्थान के ही नहीं बल्कि भारत के प्राचीन प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों में भी उनका एक प्रमुख स्थान माना जाता है। इनकी अब तक अप्रकाशित रहने वाली कुछ रचनाओं को प्रकाश में लाने के लिये, श्री गङ्गाधरजी द्विवेदी व्याख्याता, महाराज संस्कृत कालेज, जयपुर ने, जो ग्रन्थ-कर्त्ता के पौत्र हैं, हमारा ध्यान आकृष्ट किया। चूंकि प्रधान रूप से स्व० महामहोपाध्यायजी का कार्यक्षेत्र राजस्थान ही रहा है अतः इनकी कुछ विशिष्ट रचनाओं को हमने राजस्थान-पुरातत्त्वान्वेषण-मन्दिर द्वारा प्रकाशित करना उपयुक्त समझा। तदनुसार "दशकण्ठवधम्", "दुर्गा-पुष्पाञ्जलि", "भारतालोक" और "भारत-शुद्धि" नामक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य स्वीकृत किया गया। इन पुस्तकों के सपादन-कार्य के लिए श्री गङ्गाधरजी द्विवेदी को ही हमने अधिक उपयुक्त और योग्य समझा, क्योंकि ये ग्रन्थकार के निकट सम्पर्क में रहने के कारण इन ग्रन्थों के विषय से अच्छी तरह अभिज्ञ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना को देख कर हमारी यह इच्छा हुई कि इसके साथ एक अनुरूप संक्षिप्त व्याख्या का होना भी आवश्यक है। अतएव हमने संपादकजी को सलाह दी कि वे इसके उपयुक्त एक व्याख्या भी तैयार करके संलग्न करें। तदनुसार उन्होंने "परिमल" नामक विवृत्ति लिख कर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है और परिश्रम-पूर्वक अच्छे ढङ्ग से इसका संपादन किया है।

इस पुस्तक को "राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला" में प्रकाशित करते हुये हमें हर्ष हो रहा है और आशा है कि संस्कृत-साहित्य के प्रेमियों को यह आदरणीय वस्तु प्रतीत होगी।

चैत्र ५, शक सं० १८७९

ता० २६-३-५७

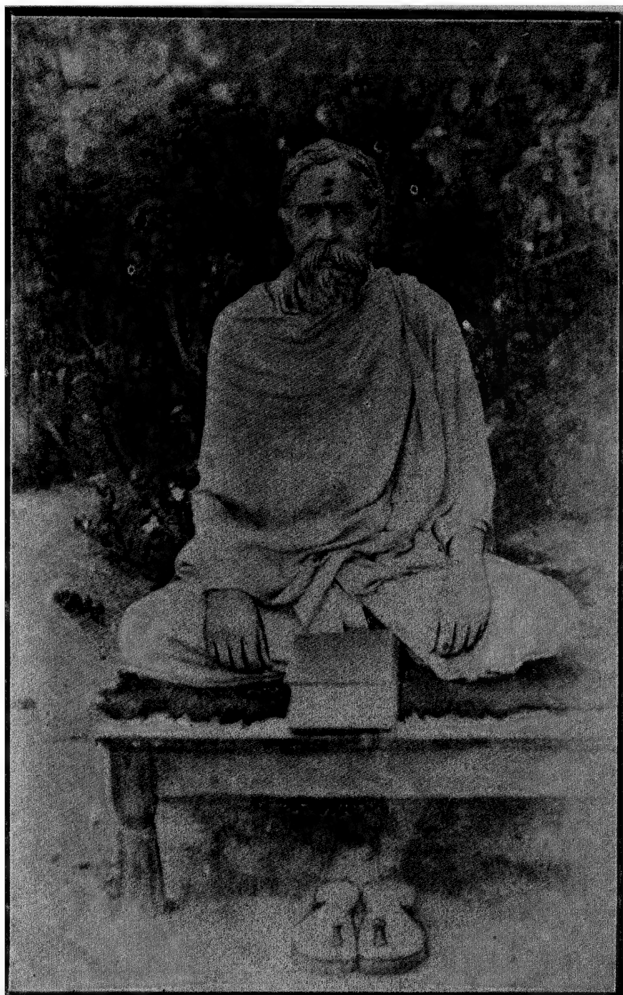
मु नि जि न वि ज य

सम्मान्य सञ्चालक,

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर

जयपुर।

स्तोत्र-सूची



महामहोपाध्याय पं. श्री दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी

॥ श्रीः ॥

प्रस्तावना

अवतरणिका—हमारा देश आरम्भ से ही अध्यात्मवादी विचारधाराओं का प्रमुख केन्द्र रहता आया है। यहां के परंपरागत इतिहास का अध्ययन और विश्लेषण करने से यह तथ्य सुगमता से जाना जा सकता है। व्यापक दृष्टि से देखें तो कहना न होगा कि अध्यात्म जगत् की लोककल्याणमूलक भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के आदिम प्रवर्तक और परिष्कारक के रूप में इस देश का महत्व विश्व के अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक बढा चढ़ा रहा है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का दिव्य सन्देश और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में होने वाला उसका व्यापक एवं सन्तुलित बिकाश ये दोनों ही बातें वास्तव में इस देश की ही अमूल्य देन हैं। अतएव यहां के अध्यात्म-साहित्य को यदि विश्व के अध्यात्म-मार्ग का उन्नायक किंवा पथप्रदर्शक कहा जाय तो इसमें कोई अनौचित्य न होगा। फलतः इस दिशा में उसे दिया जाने वाला सन्मान उसके 'जगद्गुरु' पद के सर्वथा अनुरूप ही माना जायगा।

इसमें सन्देह नहीं कि यहां के सांस्कृतिक जीवन और उसके अध्यात्म-चिन्तन की शैली अपने आप में बड़ी सजीव और आकर्षक रही है। और यह उसी का प्रभाव है कि विभिन्न भौगोलिक बन्धनों की परिधि में रहने और विविधता को अपना लेने पर भी राष्ट्र की आत्मा के रूप में हमारी एकरूपता आज भी सुरक्षित है। इसलिए व्यापक अर्थों में इसे राष्ट्रीय इतिहास का महत्वपूर्ण पृष्ठ कहना अधिक उपयुक्त और न्याय संगत होगा।

स्तोत्र साहित्य का उद्गम और महत्व—संस्कृत का स्तोत्र साहित्य हमारी इसी पृष्ठभूमि का पोषक और महत्व पूर्ण अंग माना जाता है। वैदिक संस्कृति के प्रचार और प्रसार का युग ही मूलतः स्तोत्र साहित्य की उत्पत्ति का समय कहा जा सकता है। क्योंकि देवस्तुतियों का प्रचलन सर्वप्रथम वैदिक सूक्तों और ऋचाओं से ही आरम्भ होता है। त्रिविध दुःखों से पीडित मानव के लिए ईश्वर की शरणागति के सिवा आत्मिक शांति का दूसरा कोई सुगम और सफल उपाय संभव नहीं होता। क्योंकि बुद्धिजीवी और संवेदनशील मानव के

हृदय को अन्यत्र समाधान मिल सकना कठिन ही नहीं असंभव है। उसके संतप्त हृदय के साथ सहानुभूति रखने का सामर्थ्य यदि कहीं है तो वह सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर ही में हो सकता है। वह अपने लौकिक दुःखों की कहानी उसके सिवा किसको सुनावे। जब सांसारिक प्राणी प्रभु के समक्ष हृदय खोलकर अपनी करुण दशा पर क्रन्दन करने लगता है-तो निस्सन्देह प्रभु को भी उसकी दशा पर दया आजाती है। और इस प्रकार प्रभु की तन्मयता प्राप्त होने पर सहज ही वह संतापों से छुटकारा पाजाता ।

ईश्वर-भक्त मानवहृदय को स्तोत्रों के द्वारा शब्द ब्रह्म की अनुभूतियों का जब प्रश्रय मिलजाता है तब उसका भावुक हृदय उसके सहारे अपने आपको सबल एवं पुष्ट अनुभव करने लगता है। क्योंकि जब जब वह अपनी पराधीनता और अपूर्णता से खिन्न किंवा विचलित हो उठता है तो उसे अपने इष्टदेव के गुणानुवाद से एक प्रकार की स्थायी सुखशांति का लाभ होता है। क्योंकि वह उसके अलौकिक सामर्थ्य और प्रभाव का हृदय से कायल होजाता है। भक्ति का अंकुर इसी प्रभु शक्ति का परिणाम है।

मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी होने के नाते, जब तक बाह्यजगत् के वास्तविक रूप को सही अर्थों में नहीं जान लेता तब तक वह अपने आपको भी नहीं पहचान पाता। यही उसकी अपूर्णता का माप दण्ड है। वह जब सृष्टि उसके नियन्ता और अपनी सीमित शक्ति पर विचार करने बैठता है तो सहसा निराश हुए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि सृष्टि का यह गोरख धन्धा प्रयत्न करने पर भी उसकी विचार शक्ति को संतुलित नहीं होने देता। अतएव गुरुजनों के मार्गदर्शन और उपदेश की आवश्यकता पडती है जो कि एक स्वस्थ मानव के लिए आवश्यक और अनिवार्य आवश्यकता है। वेदों और उपनिषदों में इस प्रकार की जिज्ञासा और उसका समाधान भावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया गया है—

'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥'
'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥'

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥'

'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥'

'छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥'

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥'

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥'

वास्तव में सृष्टि रहस्य और उससे संबन्धित आत्मवाद की यह समन्वयात्मक व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से भी मूल समस्या के विवेचन के लिए काफी ठोस और परिणामतः हृदय को स्पर्श करने वाली है। इससे अधिक इस गुत्थी को सुलझाने का कोई सुगम प्रकार दिखाई नहीं देता।

तात्पर्य यह कि अध्यात्म-मार्ग पर अवलंबित स्तोत्र-साहित्य मानवमात्र के आत्मिक-जागरण, स्फूर्ति एव प्रेरणाओं का स्रोत है। इसके रंग में रंगे हुए कर्मयोगियों के लिए संसार यात्रा का भार हलका पडजाता है और विभिन्न देशकाल में उपनत होने वाले कर्मफल की भुक्ति सात्विक जीवन में बाधक नहीं बनती। यही इसकी सफलता का निदर्शन समझा जाना चाहिए। उत्थान-पतन की भौतिक घटनाओं के प्रभाव में न फंसना ही स्तोत्र साहित्य के महत्व का परिचायक है। यही नहीं-यदि गंभीर दृष्टि से विचार किया जाय तो यह मानना होगा कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत की प्रबल जागरूकता का श्रेय यदि किसी को दिया जासकता है तो वह हमारा स्तोत्र साहित्य है। जिसके द्वारा जनमानस की वास्तविक शुद्धि होकर उसमें सत्य की सत्ता प्रतिबिम्बित होने लगती है।

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य एक विशाल और ...क अनुभूतियों का भण्डार है। ऋषि मुनियों से लगाकर कवियों और ...र्यों तक ने इसके द्वारा अपनी २ भावनाओं को मूर्त एवं सजीव रूप दे दिया है। आचार्य पुष्पदन्त का 'शिव महिम्नस्तोत्र' एवं आचार्य शंकर की 'सौन्दर्यलहरी' इसके

प्रतिनिधित्व की कसौटी हैं। उनकी भावपूर्ण उक्तियों पर किसका हृदय नहीं पिघलता। इसी प्रकार जगद्धर भट्ट की 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' और पंडितराज जगन्नाथ की 'गङ्गालहरी' के संमुख किसका मस्तक श्रद्धा से नहीं झुक जाता? कहने का मतलब यह कि यहां के स्तोत्र साहित्य की विशालता का अनुमान लगा सकना भी हमारे लिए दुष्कर है। ज्ञात-अज्ञात सैकड़ों स्तोत्र और स्तोत्रकार इस भारत भूमि में जन्म ले चुके हैं, जिनके नाम और कृति का पता तक चला सकना कठिन ही नहीं असंभव होगया है।

हमारे निकटतम सहयोगियों में जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों की भी स्तोत्र साहित्य की संपत्ति कुछ कम महत्व नहीं रखती। उन्होंने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त एवं उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया है- जो कि भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण तथा आदर की वस्तु है।

पंचधारा की उपासना—वैदिक युग की समाप्ति और पौराणिक युग के आरंभ में पंचधारा की उपासना इस देश की एक व्यापक परंपरा बन गई थी। विकाशवाद की दृष्टि से ऐसा होना स्वाभाविक था। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म तक पहुँच सकना सर्वसाधारण की शक्ति और समझ से परे की बात थी। इधर आस्तिकों के हृदयों में बौद्धिक स्तर पर होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं के समाधान स्वरूप किसी सर्वसंमत और सुलभ प्रणाली का निर्देशन भी आवश्यक समझा जाने लगा था। इसीके फलस्वरूप पंचधारा की उपासना का प्रचलन हुआ। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वैदिक साहित्य में उपासना प्रणाली का कोई निर्धारित लक्ष्य या स्वरूप न था। यह स्वरूप तो बहुत पहले ही निर्धारित हो चुका था। किन्तु उस युग में वैदिक यज्ञों और इष्टियों का विशेष प्रचलन होने से इसका प्रचार सीमित रहा। उपासना के लक्ष्य और उसके महत्व की पुष्टि के लिए यहां कतिपय श्रुतियों का उल्लेख कर देना इसके स्वरूप परिचय में सहायक ही नहीं आवश्यक होगा—

'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥'

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥'

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥'

'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ॐ मित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।'

'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥'

उपर्युक्त श्रुतियों से यह स्पष्ट है कि मूलतः यह उपासना प्रणाली वेद-प्रसूत है। इसी प्रकार पञ्चदेवोपासना की तांत्रिक–पद्धति भी वेद संमत मानी गई है। किन्तु यहां इसकी अधिक चर्चा करने का अवसर नहीं।

शिव-शक्ति-विष्णु-गणेश और सूर्य ये पांच देवता ही इस पंचधारा के उपास्य देव हैं। इनकी प्रमुखता के आधार पर ही सबकी अलग अलग और पञ्चायतन के रूप में एक साथ भी उपासना का क्रम शास्त्रों में वर्णित है। इसलिए आपस में यदि इन्हें एक दूसरे का पूरक कहा जाय तो कोई असंगति न होगी। क्योंकि गुणधर्मानुसार इनकी सत्ता अलग २ होने पर भी तात्विक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। उपासना की दृष्टि से ये सभी समान रूप से फलदायक और ईश्वरीय शक्ति के प्रतीक हैं। अतः इस प्रसंग में फल के तरतमभाव की कल्पना या एक दूसरे को छोटा बड़ा समझना केवल अज्ञान मूलक भ्रम है। इसलिए उपासना संबन्धी विभिन्नताओं और विविध कल्पनाओं के होते हुए भी परिणामतः मौलिक रूप की एकता असंदिग्ध और एक निर्णीत तथ्य है।

नाम और रूप का द्वन्द्वात्मक सृजन ही दृश्य जगत् का स्थूल रूप है। दूसरे शब्दों में शब्द और अर्थ की सामूहिक सृष्टि का परिणामन ही यह विश्व है। इस बात को हृदयङ्गम कराने के लिए दार्शनिकों ने शिव और शक्ति की समन्वयात्मक पृष्ठभूमि में ईश्वर के अर्धनारीश्वर रूप की सार्थकता और उसकी व्यावहारिक आवश्यकता बतलाई है। 'शक्तयस्तु जगत्सर्वं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः ।' की रूपणा द्वारा इस लक्ष्य की प्रधानता मानकर अद्वयवाद की पुष्टि की है। यद्यपि इस क्षेत्र में देश-काल और परिस्थितियों के कारण अनेक मतों और वादों ने जन्म लिया और उनका पारस्परिक संघर्ष भी दीर्घकाल तक चलता रहा, किन्तु

सार्वभौम मान्यता अथवा स्थिरता की दृष्टि से वे अधिक टिकाऊ नहीं बन पाये। कारण यह था कि सैद्धान्तिक बातों में कोई मौलिक अन्तर न होने से अधिकांश में असहिष्णुता की भावना तथा पृथक् वर्गीकरण की दुष्प्रवृत्ति ही इसके मूल में निहित थी। और वह समय पाकर धीरे २ स्वतः शिथिल पड़ती गई। अन्ततः अद्वैतवादी विचारधारा का ही दूरदर्शी बुद्धिजीवियों ने आश्रय लिया। जो कि एकता की अनुभूति के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी थी। इस दृष्टि से वेदान्तियों के जीव ब्रह्म की एकता का नारा कोरा शुष्क कलह न होकर अद्वैतवाद की वास्तविकता किंवा यथार्थता का ही निदर्शन था।

पंचधारा के अन्तर्गत शिव, शक्ति और विष्णु की उपासना के क्षेत्र में प्रमुखता पाई जाती है, और हमारा स्तोत्र साहित्य अधिकांश में इन्हीं से सम्बद्ध है। जैसा कि पहले कहा गया है सुप्रसिद्ध काश्मीरक कवि जगद्धर भट्ट की 'स्तुति कुसुमाञ्जलि' तथा शंकराचार्य की 'सौन्दर्य्यलहरी' आदि इसके सुदृढ स्तम्भ हैं। आर्ष एवं पौरुष स्तोत्रों में अपनी २ रुचि के अनुसार इन देवताओं के ऐश्वर्य की गाथा अथवा यों कहिये कि गुणानुवाद की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है।

दुर्गापुष्पाञ्जलि—प्रस्तुत दुर्गापुष्पाञ्जलि प्रधान रूप से भगवती त्रिपुर-सुन्दरी को समर्पित पुष्पाञ्जलि है। आगम की परिभाषा में त्रिपुर-सुन्दरी का ही दूसरा नाम दुर्गा भी माना गया है। अतएव इनके मौलिक रूप में कोई अन्तर न होकर केवल संज्ञा मात्र का भेद है। यही त्रिगुणात्मिका शक्तियों की समष्टि के रूप में 'श्रीविद्या' भी कहलाती हैं। यहां इन्हीं 'श्री विद्या' अथवा त्रिपुर सुन्दरी के अर्थ में दुर्गा शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रसंग में यह बतला देना आवश्यक होगा कि पुष्पाञ्जलि शब्द का प्रयोग भी यहां अपने आगमोक्त अर्थ में किया गया है। जो कि एक नियत और भावना विशेष का द्योतक है। पुष्पाञ्जलि शब्द की सार्थकता भी यहां इसी अर्थ में हैं। यों इसका प्रयोग सामान्य रूप से जिस अर्थ में किया जाता है, वह अर्थ भी इसमें निहित हो जाता है। आगम के नियमानुसार श्री विद्या के उपासक बहिर्याग के समय नौ पुष्पाञ्जलियां समर्पित करते हैं, उस नियम का निर्वाह करते हुए पुष्पाञ्जलि-कार ने इन स्तोत्रों की श्लोक संख्या भी नौ ही रक्खी है। और इस प्रकार आगमोक्त प्रणाली का पूरा २ पालन किया गया है। इसका प्रथम विश्राम ही

मुख्य रूप से पुष्पाञ्जलि का प्रधान अंग है। दूसरे बिश्राम से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। यद्यपि उसमें भी अर्धनारीश्वर की महिमा ही वर्णित हुई है। किन्तु उसकी रचना स्तोत्र साहित्य की विशुद्ध काव्यात्मक शैली को लेकर हुई है। अतएव इसके अन्तर्गत भारत की प्रधान सप्तपुरियों तथा सरयू-यमुना आदि कुछ प्रमुख नदियों का वर्णन भी इसमें समाविष्ट है। जो कि स्तोत्र एवं काव्य की सम्मिलित भावना की दृष्टि से एक विशिष्ट महत्व की वस्तु है। इस अंश को प्रकीर्णक पुष्पाञ्जलि कह देना अधिक उपयुक्त होगा।

पुष्पाञ्जलिकार का परिचय—पुष्पाञ्जलिकार का जन्म संवत् १६२० श्रावण कृष्ण १०, शुक्रवार को अयोध्या से आठ कोस पश्चिम 'सरयू' नदी के दक्षिण तट पर 'थरेरू' नामक गांव में हुआ था। आपकी जाति–सरयूपारीण ब्राह्मण, उपाख्या–द्विवेदी, गोत्र–काश्यप, वेद शुक्लयजु, शाखा माध्यन्दिनी थी। आपके पिता का नाम सरयूप्रसाद द्विवेदी था। जो अपने समय में एक तपस्वी, शास्त्रज्ञ, तन्त्रविद्या के रहस्यज्ञ, एवं सम्मानित महापुरुष थे।

अपने पिता से ही आपने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद, पिता की आज्ञा से आप नित्यपार्थिव-शिवपूजन किया करते थे। संस्कारवश इसका फल 'ईशानः सर्व विद्यानाम्' ने शीघ्र ही पूर्ण किया। एवं १८ वर्ष की अवस्था में आप में कवित्व शक्ति का उद्गम हुआ और उसके फलस्वरूप सर्वप्रथम आपने 'प्रसन्न-चण्डीपति' अष्टक बनाया।

अनन्तर, आपको पिताने अपने मित्र लखनऊ के विख्यात रईस मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई. की अनुमति से काशी में ज्योतिष-शास्त्र पढाने का निश्चय किया। तब मुन्शीजी ने बनारस के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के. सी. आई. ई के पास भेजा और उन्होंने सुप्रसिद्ध गणितज्ञ म. म. बापूदेव शास्त्री सी. आई. ई. के निकट ज्योतिष पढने के लिए गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में भरती कर दिया। कालेज का समय प्रातःकाल का नियत था, अतएव दोपहर के बाद आप म. म. गंगाधर शास्त्री की सेवा में उपस्थित होकर साहित्य-दर्शन आदि विषयों का अध्ययन भी करते रहे। उस समय काशी का विद्यापीठ नाम सार्थक हो रहा था, और हिन्दी के हरिश्चन्द्र युग का आरम्भकाल था।

संस्कृत-कालेज के सरस्वती-भवन से 'काशी विद्यासुधानिधि' (The Pandit) नाम का मासिक-पत्र निकलता था। उसमें संशोधित और परिष्कृत रूप में संस्कृत साहित्य के विभिन्न विषयों के प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन होता था। उसको देखभालकर द्विवेदीजी ने नवीन रीति से ग्रन्थ संपादन-कला का ज्ञान प्राप्त किया और ऐतिहासिक तत्त्वों की छानबीन में निपुणता प्राप्त करली।

आपके प्रधानाध्यापक वापूदेव शास्त्री कोंकण देश के दक्षिणी ब्राह्मण और अँगरेजी ग्रह गणित के मार्मिक विद्वान् थे। वे योरोपियन प्रकारों का भारतीय सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक विवेचन किया करते थे। इस प्रसंग से आप भी अंग्रेजी ग्रहगणित के मूल सिद्धान्तों से भलीभांति परिचित होगये थे। इस प्रकार काशी में विद्योपार्जन पूरा होने पर कालेज से परीक्षा का प्रमाण पत्र लेकर आप अपने गांव पंडितपुरी को वापस आगये। आपके पिता राज्याश्रित होने से जयपुर में रहा करते थे।

साहित्य सबन्धी कार्यक्षेत्र का सामयिक ज्ञान प्राप्त होने से आप लखनऊ में उक्त मुंशी महोदय से मिले और दो प्रस्ताव उपस्थित किये। पहला ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद और दूसरा ज्योतिष के पाठ्य गणित-ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद। मुन्शीजी ने प्रस्तावों का अनुमोदन किया और आपको ग्रन्थ संपादन का कार्य सौंपा। आपने प्रथम भास्कराचार्य की लीलावती और बीजगणित का क्रम से संस्कृत टीका, भाषा भाष्य एवं गणितोपपत्ति के साथ अनुवाद किया। दोनों ही ग्रन्थ नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित किये गये। जो आज भी शिक्षा संस्थाओं में पाठ्यग्रन्थ हैं। ऋग्वेद का अनुवाद भी आपने कई मण्डलों तक किया, किन्तु मुन्शीजी का आकस्मिक देहावसान होजाने से यह महाकार्य अधूरा ही रह गया। उसके बाद आप अपने पिता के पास जयपुर को चले गये।

जयपुर में आपने महाराजा सवाई रामसिंहजी के नाम से 'राम गुणोदय' नामक चम्पू-काव्य लिखना आरंभ किया और चार सर्ग तक लिखा भी, परन्तु राजवैद्य भट्ट श्रीकृष्णराम कवि 'जयपुर विलास' काव्य पहले ही बना चुके थे इसलिए आपने उक्त चम्पू काव्य को दूसरे चरितनायक भगवान् रामचन्द्र की ओर ले जाकर 'दशकण्ठवध' नामक चम्पू काव्य बनाया। जो कि अभी हाल ही में राजस्थान सरकार के 'राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर' द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थमाला

में प्रकाशित होने जा रहा है। इसमें गद्य पद्य का सहज-सुन्दर पद विन्यास और श्लेष-विरोधाभास आदि काव्योचित विशेषताओं का समावेश है। रामचरित होने से परमार्थाकलन का भी संपुट है।

कालक्रमानुसार, संस्कृत कालेज, जयपुर में ज्योतिषाध्यापक की मांग हुई और राज्य ने आपको उस पद पर नियुक्त किया। अध्यापन कार्य करते हुए, बाकी समय में आप नवीन विषयों का अन्वेषण किया करते थे। आपको युक्लिद् की ज्यामेट्री (रेखा गणित) हिन्दी अक्षरों की, पर उर्दू भाषा में पढाने को मिली जो उस समय के ऐंग्लो-वर्नाक्युलर स्कूलों के लिए बाबू आत्माराम बी० ए०, जैसे उद्भट उर्दू दां लोगों द्वारा अनुवादित थी, क्योंकि संस्कृत में कोई पुस्तक न थी। छात्र लोग उसीके पारिभाषिक शब्दों और शकलों को घोटा करते थे। इस कठोर यातना से पीछा छुडाने के लिए आपने जयपुर नगर के निर्माता महाराज जयसिंह के राज्य ज्योतिषी जगन्नाथ सम्राट् (१७७४ ई०) का बनाया १५ अध्यायों का जो भीमकाय एवं त्रुटित संस्कृत में लिखा हुआ 'रेखा गणित' पडा था उसमें से प्रयोजनीय भागों को योरप के हंटर आदि की पुस्तकों से मिलान करके आदि के ६ अध्यायों को दो भागों में, उत्तम संस्कृत के छोटे वाक्यों में उपपत्ति तथा क्षेत्रों के साथ लिखा और उसका नाम 'क्षेत्रमिति' रक्खा।

जयपुर के तत्कालीन शिक्षाविभागाध्यक्ष बाबू कालीपद बनर्जी ने इसको कलकत्ते में प्रकाशित करके पाठ्य में नियुक्त किया। बाद में इस क्षेत्रमिति को काशी, बिहार और बंगाल की सरकारी शिक्षा संस्थाओं ने भी स्वीकृत किया और वह आज भी पाठ्यग्रन्थ है।

कुछ ही समय बाद आप उक्त संस्कृत कालेज में ज्योतिष शास्त्र के प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए और आचार्योचित शिक्षा देकर कई छात्रों को सफल किया। भारत के विभिन्न प्रान्तों में आपके शिष्य शिक्षा क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। इसी प्रसंग में आचार्यश्रेणि में पाठ्य 'जैमिनि सूत्र' को सुन्दर श्लोकबद्ध अनेक संस्कृत छन्दों में निर्माण कर 'जैमिनि पद्यामृत' नाम से प्रसिद्ध किया। इसमें जैमिनि मुनि के दुर्बोध, जटिल और अव्यवस्थित सूत्रों की व्यवस्था करके रूढिवादी वृद्धकारिकाओं की संगति लगा कर उनका सोदाहरण स्पष्टीकरण किया गया।

प्रसंगवश आप संस्कृत कालेज के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये और दीर्घकाल तक सुव्यवस्था एवं मर्यादा के साथ कार्यभार का संचालन किया तथा 'चातुर्वर्ण्य शिक्षा' आदि ग्रन्थों के निर्माण, और विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों के संस्करण में समय लगाया।

जयपुर में निवास करते हुए आप सन् १९०४ ई० में राज्य की आज्ञा से बंबई की 'पंचाग शोधन सभा' में अपने शिष्य वर्ग और दूसरे राज्यज्योतिषियों के साथ सम्मिलित हुए थे। यह सभा उस समय के शृंगेरी-मठाधीश श्री-शंकराचार्य की अध्यक्षता में हुई थी। इसके आयोजक लोकमान्य तिलक आदि प्रमुख धीरगम्भीर देश नायक थे। भारत के प्रत्येक प्रान्त से बडी संख्या में ज्योतिषियों का जमघट हुआ था। पंचाग विषयक संशोधन उपस्थित किया गया और तदनुसार सर्वसम्मति से नवीन करण ग्रन्थ ग्रहलाघव के नमूने का बनाना निश्चय हुआ। प्राचीन धार्मिक रूढिवादी और नवीन कायाकल्प के गणितज्ञों ने उदयास्त ग्रहण आदि के दृक्प्रत्यय-कारक संस्कारों का विचार विनिमय किया। उसके बाद सालों तक चर्चा का प्रवाह जारी रहा और अन्त में दक्षिण देश के 'सांगली' नगर में पुनः आपसी विवाद और काट-छांट के लिए ज्योतिष सम्मेलन रचा गया। परन्तु आज लगभग ७० वर्ष से काशी आदि में जिन भीतरी ग्रन्थियों को सुलझाने का विद्वानों ने प्रयास किया था उसका कोई सर्वसम्मत निपटारा न होसका। अपितु साम्प्रदायिक ग्रन्थियां उलझती ही गईं। अस्तु।

उक्त अवसर पर आपने पूर्वापर के समन्वय के साथ निर्णयात्मक 'पञ्चाङ्ग तत्त्व' नामक श्लोकबद्ध निबन्ध लिखा और वह विद्वत्समाज में वितीर्ण किया गया। इस अवसर पर उक्त सभा के अध्यक्ष श्री शंकराचार्य महाराज ने आपको 'ज्योतिः कविकलानिधि' का प्रमाण पत्र अर्पित किया था।

सन् १९१६ ई० में आप हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस के शिलान्यास समारोह में जयपुर राज्य की ओर से प्रतिनिधि बनाकर भेजे गये थे। आपने वहां की संस्कृत शिक्षा संबन्धी पाठ्यपुस्तकों के बारे में अपनी स्वतन्त्र सम्मति दी थी, जो युनिवर्सिटी सम्बन्धी कार्यक्रम की रिपोर्टों में प्रकाशित है। आप वहां की ओरियन्टल फेकल्टी (Faculty of Oriental Learning) के सभासद

थे। बोर्ड आफ संस्कृत स्टडीज-यू० पी० (U. P. Board of Sanskrit Studies) के भी सदस्य निर्वाचित किये गये थे।

सन् १९१८ ई० में आपकी बनाई हुई 'चातुर्वर्ण्य शिक्षा' की हस्त लिखित प्रति डा० वेनिस प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज बनारस ने, जो कि भारतीय दर्शन-शास्त्र के विशेषज्ञ थे, देखी और आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होगये। कालेज के अन्य प्रमुख विद्वानों ने भी उक्त पुस्तक का अनुशीलन करके अपनी सम्मति प्रदान की।

तदनन्तर शिक्षा-विभाग के उच्च अधिकारियों को उक्त ग्रन्थ का महत्व ज्ञात हुआ और युक्तप्रान्त की सरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की पदवी देने का निश्चय किया। आप यू० पी० के निवासी तथा प्रान्त के विद्वान् थे। परन्तु जयपुर स्टेट सर्विस में थे। सन् १९१८ ई० में उक्त पदवी की पोशाक और प्रमाण पत्र जयपुर के रेजीडेंट महोदय के द्वारा स्टेट कौंसिल को भेज दिया गया। यह संवाद जब जयपुर नरेश धर्मप्राण महाराज श्री सवाई माधव-सिंहजी को बतलाया गया तो वे बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। इस उपलक्ष्य में जयपुर के प्रधान पुष्पोद्यान 'रामनिवास बाग' में बड़े समारोह के साथ सभा आमंत्रित की गई, एवं रेजीडेंट महोदय ने स्वयं आपको उक्त पदवी का प्रमाण पत्र अर्पित किया।

इस प्रकार आपने प्रसंगागत अनेक लौकिक, धार्मिक और सामाजिक कार्यों का नियमानुसार संचालन करते हुए समयवश शारीरिक शिथिलता का अनुभव करके सन् १९२६ ई० में संस्कृत कालेज के अध्यक्षपद से अवकाश ग्रहण कर लिया। वास्तव में आप वानप्रस्थाश्रम के भाव से जयपुर में अयाचित व्रत से निवास करते थे और शास्त्र चिन्तन एवं परमेश्वराराधन में सदा मग्न रहते थे। संसारी कर्मजाल और कृत्रिम बाह्याडम्बर के प्रलोभनों से अलग होने पर भी जनता की श्रद्धा और विश्वास के आश्रय थे।

सन् १९३२ ई० में आपने जयपुर नगर के उपनिवेश ब्रह्मपुरी में, बस्ती के समीप ही सड़क पर एक स्वतन्त्र स्थान बनवाया था। इसका नाम 'सरस्वती पीठ' है। इस पीठ के बाहरी फाटक पर देवनागरी अक्षरों में 'तेजस्विनाव-धीतमस्तु' लिखा है। पीठ के भीतर कूप, पुष्पवाटिका और विभिन्न स्थानों

का सन्निवेश है। इस समय इसी में आपका विशाल पुस्तकालय स्थापित है। इसमें सभाष्य चारों वेद, उपनिषद्, अष्टादशपुराण, और व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, तन्त्र तथा काव्य-साहित्य के संस्कृतवाङ्मय का लिखित एवं मुद्रित रूप में संग्रह है। हिन्दी, बंगला, मराठी, और अङ्गरेजी की चुनी हुई पुस्तकों तथा संस्कृत हिन्दी के मासिक पत्रों का संग्रह है। विद्याप्रेमी अधिकारी वर्ग इससे लाभान्वित होते रहते हैं।

आप इधर वृद्धावस्था के कारण प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे और जयपुर से अपनी जन्म-भूमि को चले गये थे। वहीं अपने आश्रम 'पंडितपुरी' * में आपका औषधोपचार होता था। अन्त में समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों के समक्ष ध्यान मग्न होकर चैत्र कृष्ण ८ विक्रम संवत् १९९४ में आप ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए। आपका अन्तिम संस्कार भगवती वासिष्ठी 'सरयू' नदी के तट पर कुलप्रथानुसार किया गया था।

---

* अयोध्या (जिला फैजाबाद उत्तर प्रदेश) से पश्चिम आठ कोस पर यह स्थान है। खास मौजा पिलखावाँ है। इसमें 'वयस' नामक क्षत्रिय और उनके धर्म-कर्म के आचार्य 'जोरवा' उपनाम के सरयूपारी पाण्डे ब्राह्मण रहते हैं। उत्तर रेलवे की लखनऊ–मोगलसराय लाइन पर फैजाबाद से चौथा स्टेशन 'देवराकोट' है। स्टेशन के दक्षिण पास में ही 'पंडितपुरी' है। इसमें ५–७ घर अहीरों के और भूमि संपत्ति के साथ आपके पिता का बनवाया हुआ विन्ध्य-पाषाण का एक साम्बशिव का मन्दिर, कूप, फल-पुष्पवाटिका और पुस्तकालय आदि हैं। द्विवेदीजी ने इसका नामकरण 'शिव-दुर्गापीठ' किया है और अपने पिता के नाम से पीठ के प्रधान द्वार के समीप पाषाण पर खुदा हुआ एक कीर्ति-स्तम्भ भी प्रतिष्ठित किया है। इस स्थान से दो मील उत्तर सरयू नदी बहती है। उक्त मंदिर में संगमरमर के पाषाण में उत्कीर्ण एक शिलालेख लगा हुआ है जोकि इस प्रकार है—

'यः साक्षाद् यजुषा ऋचा च बहुशो वेदेषु मीमांस्यते
यत्रैवेश्वरशब्दशक्तिविषयः शास्त्रेषु निर्धार्यते।
यश्चैकोऽपि विचित्रदर्शनदशा नानाकृतिः कल्प्यते
सोऽयं पापहरः शिवः शिवकृते वर्वर्ति सर्वोपरि ॥१॥

आपके द्वारा लिखित, अनूदित एवं संपादित विभिन्न विषयों की पुस्तकों की तालिका निम्नलिखित है—

ज्योतिष—

१– उपपत्तीन्दुशेखर–'सरस्वती पीठ' द्वारा प्रकाशित।
भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि का सोपपत्तिक संस्कृतभाष्य।

२– जैमिनिपद्यामृत–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।
जैमिनिमुनि के सूत्रों का परिष्कृत एवं श्लोकबद्ध निबन्ध।

३– लीलावती (भास्करीय पाटीगणित) नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित।
'विलासी' नामक संस्कृत टीका एवं भाषाभाष्य।

४– बीज–गणित (भास्करीय) न० कि० प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।
'विलासी' नामक संस्कृत टीका एवं भाषाभाष्य।

स्वस्ति श्रीमान् महर्षीणां प्रवरोऽभूत् स काश्यपः।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गाद्या सन्तति र्यस्य विश्रुता ॥२॥
तत्र श्रीभगवद्रामकरुणापरिबृंहिते।
अभूवन् सरयूतीरवासिनो ब्राह्मणर्षभाः ॥३॥
तद्गोत्रजः शुक्लयजुर्वेदाध्यायी विदांवरः।
वेणीप्रसाद इत्यासीद् द्विवेदपदभूषितः ॥४॥
राधाकृष्णस्ततो जज्ञे सांख्यशास्त्रनिषण्णधीः।
कविना येन जनता दयादृष्ट्या चिकित्सिता ॥५॥
ततोऽजनिष्ट सरयूप्रसादः शास्त्रतत्त्ववित्।
यः स्निह्यत्यधिकं नन्दकिशोरे स्वानुजे विदि ॥६॥
येन जालन्धरे पीठेऽवासि श्रीगुरुसन्निधौ।
तीर्थेऽरण्ये जयपुरे तथा भावयतागमान् ॥७॥
अयोध्यापश्चिमप्रान्ते सरयूतमसान्तरे।
स्वार्जिते 'पण्डितपुरी' ग्रामेऽत्र बहुपादपे ॥८॥
यातेषु विक्रमाब्देषु षष्टिगोशीतरश्मिषु (१९६०)।
तेन द्विवेदविप्रेण कारितोऽयं शिवालयः ॥९॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां संसिद्धि र्जायते यतः।
तत्र श्रीशङ्करे भक्तिः श्रद्धा च भवताद् दृढम् ॥१०॥

५– क्षेत्रमिति–(रेखागणित) न० कि० प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।

६– गोलक्षेत्रमिति } अप्रकाशित।

७– गोलत्रिकोणमिति }

८– सूर्य-सिद्धान्त-समीक्षा–नि० सा० प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

९– अधिमास-परीक्षा–वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

१०– पञ्चाङ्गतत्त्व–नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।

११– पञ्चाङ्गाभिभाषण–नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।

दर्शन—

१– चातुर्वर्ण्य-शिक्षा–नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।

२– वेद-विद्या } अप्रकाशित।

३– ब्रह्म-विद्या }

काव्य–साहित्य—

१– साहित्यदर्पण–'छाया' नामक विवृतिपूर्ति नि० सा० प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

२– दशकण्ठवध–राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

३– दुर्गापुष्पाञ्जलि–राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

४– देवराज-चरित (चम्पू काव्य) नि० सा० प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

प्रकीर्णक—

१– भारतीय-सिद्धान्तादेश–नि० सा० प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

२– भारतशुद्धि } राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर द्वारा मुद्रणार्थ स्वीकृत।

३– भारतालोक }

४– मनुयाज्ञवल्कीय–अप्रकाशित।

५– श्रीमद्भगवद्गीता–'सुबोध कौमुदी' सहित नि० सा० प्रेस, बंबई से प्रकाशित।

६– ईश्वरभक्ति (हिन्दी) नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित।

स्तोत्रों का संक्षिप्त विवरण।

प्रथम-विश्राम।

१-परमार्थकलन-इसमें दार्शनिक दृष्टि से जीव ब्रह्म का वास्तविक अभेद बतलाते हुए एकमात्र ईश्वर की सत्ता, व्यापकता और उसके सच्चिदानन्द स्वरूप का परिचय कराया गया है। उसीके द्वारा दृश्य जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार रूप की क्रियाओं का परिणामन दिखलाया है। शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता एवं ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि भेदक नामों की कल्पना, और ईश्वर के नामरूप की विभिन्नता के होते हुए भी वास्तव में उनकी एकता की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। और इस प्रकार दर्शनों द्वारा विभिन्न भूमिका में आत्मपरीक्षण किये जाने एवं प्रस्थान-भेद के होने पर भी मौलिक रूप में उनकी एकवाक्यता का निरूपण किया गया है।

२-जगदम्बा-जयवाद-इसमें शब्द और अर्थ की सृष्टि का प्रकार, उसकी व्यापकता और उसके द्वारा प्रधान रूप से स्थूल जगत् का परिणामन बतलाया गया है। वेदान्तियों की परिभाषा में इसी को नाम और रूप की संज्ञा दी गई है। शास्त्रों में वर्णित परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चारों पारिभाषिक नामों के द्वारा शब्द-ब्रह्म की विभूति के रूप में भगवती के ही विविध रूपों का चित्रण होना दिखलाया है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद होने से शब्द और अर्थ की अभिन्नता और उसकी व्यापकता का संतुलन करते हुए भगवती के शंकर की अर्धाङ्गिनी कहलाने की यथार्थता और उपयोगिता का निदर्शन किया है, और सभी प्रकार के सुख-सौभाग्य की प्रतिष्ठा का प्रधान केन्द्र-बिन्दु बतलाया है। आगमोक्त शक्ति-पीठों में प्रधान माने जाने वाले जालन्धर पीठ की अधिष्ठात्री वज्रेशी (महालक्ष्मी) के स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के संमिलित रूपों का इसमें वर्णन प्रस्तुत किया है।

३-ईहाष्टक-इसमें कांगडा की सुप्रसिद्ध ज्वालादेवी के ऐतिहासिक मन्दिर और वहां के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया गया है। इनके संबन्ध में प्रचलित पौराणिक आख्यान, ज्वाला नाम की प्रसिद्धि और उसकी सार्थकता, एवं उनकी लोकोत्तर महिमा और प्रभाव का चित्रण है। साथ ही भक्तजनोचित हृदय से और किसी बात की आकांक्षा न करते हुए एकमात्र उनके प्रति अटूट श्रद्धा और अपनी भक्ति की स्थिरता के लिए कामना की गई है। भक्त की

निष्ठा का न डिगना ही उसका प्रमुख लक्ष्य होता है, क्योंकि वास्तव में यही उसकी सर्वोपरि सफलता मानी जाती है। इसीलिए इस स्तोत्र के ईहाष्टक नाम की सार्थकता है।

४—देवकाली-महिमा—देवकाली महाकाली का ही दूसरा नाम है। प्रस्तुत महिमा में महाकाली की ही प्रशस्त महिमा का वर्णन और उनकी उपासना द्वारा प्राप्त होने वाले आगमोक्त विशेष फलों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त, स्तुति की समाप्ति में सत्त्व, रज और तम तीनों के गुण-धर्मानुसार, त्रिशक्ति के रूप में उनके अवतार का निरूपण एवं तीनों ही रूपों का आगम-संमत स्वरूप-परिणामन दिखलाया गया है। इस स्तुति की यही विशेषता है।

५—चण्डिका-स्तुति—यह भगवती चण्डी देवी के आश्रम का प्राकृतिक वर्णन और उनके चण्डी स्वरूप का प्रतिपादन है। उक्त स्थान गोमती के तट पर स्थित है। इसका विशेष परिचय आगे दिया गया है।

६—महिषमर्दिनी-गीति—इसमें भगवती महिषमर्दिनी (महिषासुर नामक राक्षस का वध करने वाली कौशिकी) के प्रादुर्भाव से लगाकर उनके महालक्ष्मी स्वरूप की परिणति तक के आगमोक्त समष्टि रूप का वर्णन किया गया है। सुप्रसिद्ध नवार्णमन्त्र की यही प्रधान देवता हैं। इसके अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सप्तशती (दुर्गापाठ) में वर्णित प्रथम, मध्यम और उत्तम तीनों चरित्रों की अधिष्ठात्री महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के स्वतंत्र रूपों का भी क्रमशः निदर्शन है। नवार्णमंत्र के तीनों बीजों का महत्व और उनके प्रतिपाद्य अर्थों का परिचय कराया गया है। सङ्गीतकला के प्रेमियों के लिए गान के रूप में उक्त गीति अपना और अधिक महत्व रखती है।

७—सकलजननी-स्तव—यह भगवती त्रिपुर सुन्दरी (श्रीविद्या) के प्राकृतिक किन्तु साकार-स्वरूप का वर्णन है। इसीके साथ २ उनकी पूर्ण विकसित अवस्था और महिमा का चित्रण किया गया है। आगम ग्रन्थों में इनको शक्ति-मण्डल की प्रधान नायका और महाराज्ञी बतलाया गया है। इसीलिए इनको सकलजननी कहा जाता है। स्तोत्र-साहित्य के प्राचीन प्रमुख-स्तोत्र 'पञ्चस्तवी' में भी इनकी स्तुति सकलजननी के नाम से की गई है।

८-सौख्याष्टक-इसमें त्रिपुर-सुन्दरी के विविध माङ्गलिक रूपों का निरूपण किया गया है। शरणागत के उद्धार में भगवती की कर्तव्यपरायणता का स्मरण कराते हुए भक्त द्वारा मनोवाञ्छित लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की पूर्ति की प्रार्थना, तथा इस भाव के अनुरूप उनके सौख्य-स्वरूप का चिन्तन करना बतलाया है।

९-अम्बा-वन्दना-इसमें 'श्रीयन्त्र' के आगमोक्त स्वरूप का प्रतिपादन है। मूलाधार-स्वाधिष्ठान आदि षट्चक्रों के द्वारा अन्तर्याग की भावना का प्रकार एवं श्रीचक्र के अन्तर्गत आवरण देवताओं के साथ श्री विद्या के दिव्य सौन्दर्य की सृष्टि, चिन्तामणि नामक दिव्य-आगार में उनके निवास, देवताओं द्वारा उनकी सामूहिक वन्दना तथा ब्रह्मा, विष्णु और शंकर को प्रसन्न होकर महर्षिपद देने का उल्लेख किया गया है।

१०-आदेशाश्वधाटी-यह प्रधान रूप से भगवती दक्षिणा-कालिका की स्तुति है। इसमें उनके निरङ्कुश ऐश्वर्य और उच्चतम प्रभुशक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इसके सिवा उपासना क्षेत्र में इनकी अपनी विशेषताओं का निर्देश करते हुए विविध विद्याओं और कलाओं का इन्हें प्रधान आवास माना है। भक्त द्वारा जानबूझकर किये गये दण्डनीय अपराधों का भी अपने सहज-सुलभ वात्सल्य भाव से मन्दस्मित करते हुए क्षमादान कर देने का इनका लोकोत्तर साहस दिखलाया है। संस्कृत के अश्वधाटी छन्द में यह स्तुति प्रस्तुत किये जाने और साथ ही आदेश लेजाने वाले अश्वों की दौड, का अर्थ लेकर इस स्तव का यह नामकरण किया गया है।

११-स्वार्थाशंसनम्-इसमें अर्धनारीश्वर एवं गुरुरूप में भगवती के साकार भाव का प्रतिपादन करते हुए उनके उपासनात्मक स्वरूप का विवेचन है। इसके साथ साथ शास्त्र के विधि-विधान के अनुसार कष्ट-साध्य उपासना-मार्ग का बोझा ले चल सकने में अपनी स्वाभाविक असमर्थता, फलतः इसके विकल्प में केवल आगमोक्त नामपारायण के सहारे अभीष्टलाभ मिल सकने की निश्चिन्तता और एतदर्थ अपेक्षित तन्मयता को अक्षुण्ण रखने की कामना की है। इस तन्मयतारूप स्वार्थ पूर्ति की कामना ही इस स्तोत्र का प्रधान लक्ष्य है अतएव इसे 'स्वार्थाशंसन' का नाम दिया गया है।

१२—अन्तर्विमर्श—इसमें मुख्यतः कुण्डलिनी शक्ति के आरोह और अवरोह के क्रम का प्रतिपादन तथा योगदर्शन में वर्णित संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधियों द्वारा उसके साक्षात्कार का दिग्दर्शन कराया है। इसके अतिरिक्त साकार और निराकार दोनों अवस्थाओं में उपासना की दृष्टि से भावना की प्रधानता, व्यापकता और उसके द्वारा विविध शक्ति रूपों का परिणामन दिखलाया गया है। समूचा स्तोत्र कुण्डलिनी के ही चमत्कार पूर्ण विलासों का निदर्शन है। तंत्रशास्त्र की परिभाषा में इसको अन्तर्याग की संज्ञा दी गई है। यहां इसी अन्तर्याग के वर्णन के कारण इसका नाम अन्तर्विमर्श रखा गया है।

१३—आर्याभ्यर्चना—इसमें भगवती के निराकार रूप की प्रधानता बतलाते हुए सर्वसाधारण की दृष्टि से उनके साकार रूप की कल्पना तथा पञ्चायतन के रूप में उपासना प्रणाली की प्रमुखता का निर्देश किया है। साथ ही इस उपासना के द्वारा लौकिक सुखों के उपभोग तथा स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) तीनों की सुगम उपलब्धि का निरूपण है। शक्ति-पञ्चायतन के पूजा प्रकार में स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपासना क्रमों का समन्वय और उनका एकत्र अन्तर्भाव होना भी बतलाया गया है।

१४—अवस्था-निवेदन—इसमें भक्त की कठिनाइयों और उसकी अपनी करुणदशा का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। एक ओर सामाजिक जीवन में होने वाले विपरीत और कटु अनुभव दूसरी ओर मानव सुलभ दुर्बलताओं का अनेक रूप से चित्रण करते हुए भक्त की विवशता एवं दयनीय दशा का हृदयस्पर्शी विश्लेषण उपस्थित किया है। दुनियादारी के जाल और प्रलोभनों में फंसकर मनुष्य किस प्रकार अपना विवेक खो बैठता है, स्वार्थ के वशीभूत होकर सत्य और असत्य की परवाह न करके किस प्रकार अपने कर्तव्यमार्ग से च्युत हो जाता है; परिणाम में उसे कैसी निराशाओं का सामना करना पड़ता है, और अन्त में अपने किये पर कितना अनुताप होता है, आदि व्यवहार क्षेत्र के संबन्ध में मार्मिक उद्बोधन है। इसकी रचना संस्कृत के शिखरिणी छन्द में होने से करुण और वात्सल्य रस का संपुटित परिपाक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसमें वर्णित अनुभूतियां हृदय को द्रवित करने वाली हैं। अतः यह अवस्था निवेदन मानसिक वेदनाओं की प्रधानता के कारण स्वसंवेद्य है।

वास्तव में विषम परिस्थितियों में उलझे हुए मानव हृदय को बडी गहरी चोट लगती है, और उस अवस्था में उसके लिए माता की दया का ही एक मात्र अवलंब शेष रह जाता है। उसकी शरण में पहुँच जाने पर हृदय को शांति मिलना स्वाभाविक होता है, इधर व्यवहार दशा में भी बालक के कष्टों और ऊंचे नोचे अभाव-अभियोगों को स्नेहपूर्वक सुनना और उचित आश्वासन देकर संतुष्ट करना माता का स्वभाव-सिद्ध गुण हुआ करता है।

१५—आत्मसमर्पण—इसमें कवि ने जीवन में घटित होने वाले स्वयं के प्रमादों और मनुष्य सुलभ विवशताओं का लेखा-जोखा उपस्थित करते हुए भगवती की सहज-सुलभ करुणा के प्रति हृदय का स्वाभाविक आकर्षण, उसकी छत्रच्छाया में सुरक्षा की स्थिरता, और उसके अकृत्रिम वात्सल्य का गुणानुवाद करते हुए, अपनी कमियों की ओर संकेत किया है और अनन्यगतिक होकर माता के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है। साथ ही यह अभिलाषा व्यक्त की है, कि उसका यह स्नेह बन्धन कभी टूटने न पावे।

द्वितीय—विश्राम।

१. **दुर्गाप्रसादाष्टकम्**-इसमें कामरूप, पूर्णगिरि आदि, तन्त्रों में वर्णित चारों प्रधान शक्ति-पीठों की मूलाधार आदि कतिपय चक्रों में की जाने वाली भावना-प्रधान उपासना का मार्गदर्शन करते हुए आगमोक्त कालीकुल और श्रीकुल के अन्तर्गत परिगणित होने वाली विभिन्न शक्तियों के आविर्भाव और उनकी शास्त्र-सम्मत मौलिक एकता का निर्देश है। इस प्रसंग से तन्त्र-शास्त्र में वर्णित मेधा-साम्राज्यदीक्षा आदि कुछ प्रमुख दीक्षाओं का संकेत-रूप में निदर्शन और मूलशक्ति के साथ उनका अभेद बतलाया गया है। पराशक्ति की प्रधानता और उसके द्वारा स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपासनाओं का उद्गम और उनके पारमार्थिक रूप का भी परिचय है। संक्षेप में, इसके भीतर आगम के कुछ रहस्यपूर्ण सिद्धान्तों का भी सूत्ररूप से उल्लेख हुआ है, जो गुरुगम्य हैं।

२. **नव-दुर्गास्तव**— दुर्गा-सप्तशती के देवीकवच में निर्दिष्ट नवरात्र की पूजा में प्रधानता रखने वाली शैलपुत्री आदि नवदुर्गाओं की यह स्वतन्त्र स्तुति

है। नवदुर्गाओं का कोई स्वतंत्र स्तोत्र उपलब्ध नहीं होता। अतएव उनके संबन्ध में प्रचलित पौराणिक आख्यानों का सार और आगमोक्त विशेषताओं का समन्वय करते हुए गुणधर्मानुमोदित वर्णन है। तथा महाकाली आदि दुर्गापाठ में वर्णित त्रिशक्तियों का इनसे संबन्ध और अन्त में इन सबका दुर्गा के रूप में अन्तर्भाव होना बतलाया है।

३. **अष्टमूर्ति-स्तव**—अष्टमूर्ति शिव और शक्ति का संमिलित नाम माना गया है। पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्व, यजमान और सूर्य-चन्द्र के रूप में शंकर के जो आठ प्रकार के रूप शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं उनके अनुसार प्रत्येक मूर्ति की अलग २ उल्लेखनीय विशेषताओं को लेते हुए यह स्तुति की गई है। महाकवि-कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के मङ्गलाचरण में शिव की इन्हीं अष्टमूर्तियों की स्तुति की गई है, जो कि इस प्रकार है—

‘या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतुवस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥’

इस प्रसंग में शैवदर्शन में प्रतिपादित षट्त्रिंशत् तत्त्वों का शिव में अन्तर्भाव होना भी बतलाया है।

४. **चण्डीशाष्टक**—इसमें रौद्ररस की प्रधानता है, और उसी के अनुरूप स्रग्धरा छन्द में इसकी रचना की गई है। मदन दहन, शिवजी के ताण्डव नृत्य तथा शिव-परिवार के सभी प्रधान अङ्गों का प्राकृतिक और सुन्दर वर्णन है। रौद्ररस का परिपोष होने से स्तोत्र की सजीवता हृदयाकर्षक है।

५. **हरिहराष्टक**—यह विष्णु और शिव की संमिलित स्तुति है। दोनों का आपस में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक स्नेह-बन्धन बतलाया गया है। एक में शृङ्गार और दूसरे में वैराग्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए मौलिक दृष्टि से दोनों की एकता का स्थापन किया है। साथ ही मनमानी खींचतान के द्वारा उपासना क्षेत्र में संप्रदायागत दोनों के पारस्परिक विरोध को अवास्तविक और शास्त्रविरुद्ध ठहराया है। व्यास आदि मान्य ऋषि मुनियों को भी यही संमत हैं, क्योंकि दोनों ब्रह्म के ही प्रतीक हैं और उनमें कोई मौलिक भेद नहीं हैं।

६. **शिवगाथा**—यह सरल-सुगम किन्तु भावपूर्ण आरात्रिक है। भाषा में इसे 'आरती' कहते हैं। हिन्दी और दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में प्रायः सभी देवताओं की आरतियां पाई जाती हैं-किन्तु संस्कृत के क्षेत्र में इस ढंग के आरात्रिक बहुत कम देखने में आते हैं।

७. **सरयू-सुधा**—यह वसिष्ठतनया भगवती सरयू की भावपूर्ण स्तुति है। आर्ष किंवा पौरुष दोनों रूपों में सरयू का कोई प्रामाणिक स्तोत्र नहीं देखा जाता। इस अभाव पूर्ति की दृष्टि से इस स्तुति का विशेष महत्व समझा जाना चाहिए। इसमें सरयू के प्राकृतिक सन्निवेश, उनकी अगाध जलधारा की विच्छित्ति तथा देवतोचित महिमा का वर्णन है। अयोध्या में सरयू तट पर सुप्रसिद्ध नागेश्वरनाथ का ज्योतिर्लिङ्ग होने से इनका असाधारण महत्व माना जाता है। धार्मिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से इनका वर्णन चमत्कारपूर्ण कहा जासकता है।

महाकवि राजशेखर ने बालरामायण में कावेरी आदि दक्षिण की नदियों का जो स्वाभाविक वर्णन किया है—उसी ढंग के भावपूर्ण दृश्यों का चयन यहां भी प्रस्तुत किया गया है।

८. **गोमती-महिमा**—सरयू की तरह गोमती का भी कोई सुन्दर स्तोत्र देखने में नहीं आता। केवल पुराणों में ही इनका नाम सुना जाता है। किन्तु धार्मिक दृष्टि से इनका भी वही महत्व माना जाता है, जो अन्य पुण्य नदियों का है। इसमें गोमती की प्राकृतिक स्थिति का चित्राङ्कन, विभिन्न स्थानों पर उनका वैचित्र्यपूर्ण-सन्निवेश, जलप्रवाह की नानारूपता तथा पौराणिक आधार को लेते हुए अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है। पूर्वोक्त दोनों नदियों के स्तोत्रात्मक वर्णन की शैली एक ही रूप की है।

९. **यमुनाकुलकम्**—भगवान् कृष्ण की लीलाओं को प्रश्रय देने वालीभगवती यमुना का यह साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। वहां के प्राकृतिक दृश्यों से लेकर—जलक्रीडा आदि नदी संबन्धी विशेषताओं और खासकर कृष्ण के बालसहचर गोपों (ग्वाल-मण्डल) के द्वारा संप्रदायागत आमोद प्रमोदों का चित्रण है। प्रसंगवश मथुरा की विच्छित्तियों का भी इसके साथ संमिश्रण होजाने से वर्णन का

सौन्दर्य और भी बढ गया है। स्तोत्र के अनुरूप देवतोचित भावनाओं को काव्य की वर्णन शैली में जिस समन्वय के साथ ढाला गया है वह अपने ढंग का एक अनूठा निदर्शन है।

१०. **मथुरा-माधुरी**—इसमें भगवान् कृष्ण की प्रधान लीला भूमि मथुरा और ब्रज के प्रदेश का वर्णन, तथा उनकी बाल-क्रीडा, रासलीला एवं राधाकृष्ण के संमिलित मधुर रूप की शृंगार प्रधान प्रवृत्तियों का सरस चित्रण है। मथुरा के हरे भरे प्रदेशों की सुन्दरता, उद्यानों की स्वाभाविक रमणीयता, पक्षियों के मधुर कलरव आदि से लगाकर भक्तों के भावावेशपूर्ण हरिकीर्तन आदि भगवद्-गुणानुवाद के विविध प्रकारों और रूपों का निदर्शन है। द्रुतविलंबित छन्द में यमक का माधुर्य सरस एवं हृदयाकर्षक है।

इसी के अन्तर्गत श्लेष द्वारा अयोध्या-मथुरा आदि भारत की पुण्यभूमि माने जाने वाली प्रधान सप्तपुरियों की सांस्कृतिक और धार्मिक विशेषताओं का, मथुरा में एकत्र समावेश और समन्वय दिखलाते हुए काव्य-कला का अद्भुत कौशल दिखलाया गया है। संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का यह निराला वर्णन है।

११. **आत्मोपदेश**—इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप शुद्ध सात्विक जीवन की मान्यता बतलाते हुए अपने पूर्वजों के संमान और उनकी भावनाओं का आदर करने की सलाह दी है। साथ ही लौकिक और पारलौकिक कर्तव्यों में मनमानी न करने का अनुरोध किया गया है। अहंभाव के कारण पैदा होने वाली परस्पर विरोधी भावनाओं को त्याग कर एकता के सूत्र में संगठित होने, तथा केवल तर्कों के आधार पर शास्त्र की उपेक्षा और आर्ष-सिद्धान्तों की अवहेलना न करने का आग्रह किया है। इसके सिवा, सामाजिक जीवन में सत्यनिष्ठा और यथासंभव शास्त्रानुमोदित कर्तव्यपथ के अनुसरण, एवं आत्म-चिंतन की आवश्यकता बतलाई गई है।

पुष्पाञ्जलि में वर्णित प्राचीन शक्ति-पीठों का परिचय।

१—ज्वालामुखी

कांगडा घाटी पंजाब प्रान्त (पूर्वी पंजाब) का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है। यह प्राचीन शक्ति पीठ होने के साथ २ प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी हमारे आकर्षण का केन्द्र रहता आया है। यहीं पुराण प्रसिद्ध ज्वालामुखी या ज्वाला देवी का प्राचीन मन्दिर है। भारत के विभिन्न प्रान्तों से यहां प्रतिवर्ष सैकडों की संख्या में आस्तिक जनता ज्वाला देवी के दर्शनार्थ आया करती है। ज्वालामुखी का मन्दिर कांगडा नगर से २४ मील की दूरी पर स्थित है। इस पवित्र ऐतिहासिक भूमि को हिमालय की श्वेतधवल पर्वतमालाओं ने दो ओर से घेर रक्खा है। यहां के पार्वत्य प्रदेश में बहने वाले झरने एवं वनवृक्षों की हरित-श्यामल पङ्क्तियां प्राकृतिक दृश्य के सुन्दर नमूने हैं। मन्दिर के बाईं ओर एक जल कुण्ड है, जो पर्वत खण्ड को काटकर बनाया गया है। यहां पर्वत के मध्य भाग से प्रवाहित एक धारा का जल गोमुख द्वारा निरन्तर गिरता रहता है। मन्दिर के मध्य भाग में एक हवन कुण्ड है, जहां सदा-सर्वदा स्वयभू ज्योति शिखायें प्रज्वलित रहा करती हैं। यों तो यहां अनेकों स्वयभू ज्योतियां जाज्वल्यमान दिखाई देती हैं, किन्तु प्रचलित प्रथा के अनुसार हिंगुलाज नामक देवी ज्योति तथा महाकाली नामक आदि ज्योति को ही सब ज्योतियों में प्रमुखता मानी जाती है। अतएव यात्रियों द्वारा इन्हीं दोनों का प्रधान रूप से पूजन किया जाता है। पूजन हवन द्वारा ही संपन्न होता है। 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' के ईहाष्टक में (देखिये पृ० सं० १६) इन्हीं ज्वालामुखी के प्रभाव एवं महिमा का वर्णन किया गया है।

विशेषता—यहां की स्वयंभू ज्योतियां कभी प्रकट और कभी अपने आप अन्तर्धान होजाया करती हैं। किन्तु प्रत्यक्षदर्शियों के कथनानुसार कम से कम तीन और अधिक से अधिक तेरह ज्योतियां इस मन्दिर में हमेशा प्रज्वलित दिखाई देती हैं। ज्योतियों का रंग श्वेत-रक्त और पीतवर्ण का रहा करता है।

किन्तु इनमें एक आश्चर्यजनक विशेषता यह देखी जाती है कि ये ज्योति शिखायें प्रातःकाल श्यामवर्ण की, मध्याह्न में रक्त और सायंकाल पीत एवं रक्तवर्ण की होजाया करती हैं। इस प्रकार दिन में तीन बार इनके रंग में परिवर्तन होता रहता है। दीपशिखा के समान उक्त ज्योतियां शान्तमुद्रा में प्रकाशित दिखाई देती हैं। इनमें उग्रता का कभी लेशमात्र भान नहीं होता। कुछ समय तक विज्ञानवेत्ताओं की यह धारणा बनी हुई थी, कि इसके भूगर्भ में कहीं ज्वालामुखी छिपा हुआ है और इसीलिए इस ढंग की ज्योतिकिरणों का प्रस्फुटन होता रहता है। किन्तु वर्तमान में आवश्यक अपेक्षित परीक्षण के बाद यह धारणा भ्रान्त और निर्मूल सिद्ध हुई है।

ज्वालामुखी का उद्गम स्थल पर्वत का शिखर भाग माना जाता है, किन्तु उक्त मन्दिर के पर्वत की उपत्यका (तलहटी) में स्थित होने से यहां इस आशङ्का का कोई समन्वय नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त यह निर्विवाद है कि ज्वालामुखी से लावा निकलता रहता है, और वह दुर्गन्धयुक्त रहा करता है। किन्तु इन ज्योतियों में इस प्रकार की दुर्गन्ध का कहीं नाम-निशान तक नहीं पाया जाता। इसी के साथ यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं, कि इन शिखाओं से किसी प्रकार की कालिख उत्पन्न होती नहीं देखी जाती। सन् १९०५ में अकस्मात् यहां भूकम्प का एक प्रबल आक्रमण भी हुआ था, किन्तु उससे मन्दिर को कोई क्षति नहीं पहुँची। फलतः विज्ञानवादी इस संबन्ध में अपना चाहे जो दृष्टिकोण क्यों न बनावें, वास्तव में यहां की इन सब घटनाओं को देखकर यही कहा जासकता है कि यह सब ज्वालाजी की कृपा और महिमा का ही फल है।

प्राचीन किंवदन्ती—ज्वाला देवी के सम्बन्ध में पंजाब प्रान्त में एक किंवदन्ती बहुत समय से यह चली आती है कि किसी समय सुप्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर ने इन ज्योति शिखाओं को बन्द करा देने का विचार किया, और कुण्ड के ऊपरी भाग में लोहे के तवे जड़वा दिये। किन्तु ऐसा किये जाने पर भी ज्योतिशिखायें उस लोह के कृत्रिम आवरण का भेदन कर पुनः अपने पूर्वरूप में प्रकट होगई। इस पर सम्राट् अकबर को अपनी भूल का ज्ञान हुआ और इस भूल के प्रायश्चित्त स्वरूप उसने सवा मन का एक स्वर्ण-छत्र उपहार स्वरूप देवी को चढ़ाया, किन्तु भगवती ने उसकी यह भेंट स्वीकार नहीं की, और वह सोने का छत्र एक साधारण धातु के रूप में बदल गया, जो

अबतक वहां सुरक्षित रक्खा है। लोगों का यह भी कहना है, कि उनकी इस प्रत्यक्ष महिमा से प्रभावित होकर ही अकबर ने उस समय इस पर्वतीय प्रदेश में एक नहर निकलवाई थी, जो 'अकबर नहर' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक महत्त्व—यह मन्दिर बहुत प्राचीनकाल से ही हिन्दू आर्यों का पवित्र तीर्थ-स्थान माना जाता रहा है। लाहोर के यशस्वी नरेश महाराजा रणजीतसिंह ने अपने राज्यकाल में इस स्थान की तीन महत्वपूर्ण यात्रायें की थीं। ईसवीय सन् १८१५ में उन्होंने इस ऐतिहासिक मन्दिर के शिखर पर स्वर्णपत्र चढवाया था। अमृतसर का सिखों का सुप्रसिद्ध गुरुद्वार जिसे दरबार साहब एवं स्वर्णमन्दिर भी कहते हैं—उस पर तथा ज्वालादेवी के मन्दिर पर एक ही समय में और एक ही शिल्पी के द्वारा ताम्र पत्र पर स्वर्ण का कलात्मक सृजन किया गया था। उक्त दोनों ही स्थानों के स्वर्ण पत्रों के प्राचीन होजाने से अब उनका स्वर्णिम सौन्दर्य यत्र-तत्र धुल गया है। सुना जाता है, कि भारत की वर्तमान राष्ट्रीय सरकार इसकी सुरक्षार्थ जीर्णोद्धार कराने का विचार कर रही है।

महाराजा रणजीतसिंह के पौत्र राजकुमार नौनिहालसिंह ने भी ज्वालाजी के दर्शनार्थ यहां की यात्रा की थी, और मन्दिर के प्रधान द्वार पर लगे हुए किवाडों पर चांदी के कलापूर्ण पत्रे चढवाये थे। इसी प्रकार पटियाला और नाभा के भूतपूर्व नरेशों ने भी इस स्थान की यात्रा की थी, और मन्दिर में श्वेत संगमरमर की फर्श बनवायी थी। वर्तमान नेपाल नरेश के प्रपितामह भी देवीजी के दर्शनार्थ यहां आए थे, और मन्दिर में एक विशाल घण्टा लगवाया था।

कांगडा प्राचीन काल से ही हस्तनिर्मित-चित्रकला में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता आया है। कांगडा कलम के बने हुए चित्र कलात्मक दृष्टि से बहुत सजीव-सुन्दर एवं आकर्षक होते हैं। उक्त ज्वालाजी के मन्दिर में यहां की शैली से बनाये हुए देवी-देवताओं के अनेक चित्र अङ्कित हैं जो वास्तव में चित्र-कला प्रेमियों के लिए महत्व के होने के साथ २ दर्शनीय भी हैं।

पौराणिक-आधार—शिव-पुराण की ज्ञानसंहिता के अन्तर्गत सातवें अध्याय में ज्वाला देवी की उत्पत्ति कथा उपलब्ध होती है। उस कथा का सारांश इस प्रकार है—

सती के पिता दक्षप्रजापति ने किसी समय गङ्गा नदी के तट पर कनखल (कर्णखलु) में एक यज्ञ किया था। इस यज्ञ में दक्ष ने समस्त देवताओं को आमन्त्रित किया था किन्तु जामाता शंकर से किसी कारणवश रुष्ट रहने से उन्हें आमन्त्रित नहीं किया। सती को यद्यपि यह सब कुछ पहले से ही ज्ञात होगया था, किन्तु फिर भी वह शंकर का अनुरोध न करके यज्ञ के अवसर पर अपने पिता के घर चली गईं। वहां जाकर जब उन्होंने यज्ञ मण्डप के द्वार पर, अपमान करने के निमित्त द्वारपाल के रूप में खडी की गई शंकर की मूर्ति को देखा तो उनके दुःख का ठिकाना न रहा। इसके सिवा किसी भी आत्मीयजन ने वहां पहुँचने पर उनका यथोचित स्वागत-सत्कार भी नहीं किया। यज्ञ की समाप्ति के समय पूर्णाहुति के अवसर पर शंकर को छोडकर अन्य सभी देवताओं के नाम से पूर्णाहुति दी गई। सती को शंकर का यह घोर अपमान सहन न हुआ, और उन्होंने इस दुःख के कारण यज्ञ कुण्ड में कूद कर अपने प्राण छोड दिये। इस दुःखपूर्ण और अप्रत्याशित घटना से यज्ञ मण्डप के चारों ओर हाहाकार मच गया। इतने ही में इधर कैलाश से सती के साथ आये हुए, शंकर के प्रमुख सेनापति वीरभद्र ने कुपित होकर इस यज्ञ को नष्ट कर दिया और दक्ष का शिरच्छेद कर डाला।

यज्ञ में उपस्थित देवतागण इस घटना से दुःखी और भयभीत हो उठे। उन्हें यह भी डर लगा कि इस समय यदि कहीं कुपित होकर शंकर ने रौद्ररूप धारण कर लिया तो सारी सृष्टि ही समाप्त होजायगी। इस हेतु वे शंकर की प्रसन्नतार्थ उनकी स्तुति करने लगे। शंकर तत्काल ही यज्ञ मण्डप में आ पहुँचे और देवताओं के अनुनय-विनय एवं प्रार्थना करने पर यज्ञ को पुनः यथावत् कर दिया। इस प्रसंग में सती के योगाग्निदग्ध शरीर से जो ज्वाला निकली वह एक पहाड़ पर चली गई।

इस प्रकार सती के शरीर त्याग कर देने पर शंकर अत्यन्त दुःखी हो उठे और मोहवश वे सती के उस दग्धशरीर को अपने कन्धों पर रखकर उन्मत्त की तरह, विलाप करते हुए इधर उधर घूमने लगे। देवताओं ने जब उनकी यह दशा देखी तो उन्हें डर लगा कि यदि कदाचित् शंकर इसी अवस्था में रहे, तो जगत् का संहार कार्य बन्द होजायगा, और सृष्टि का कोई ठिकाना न रहेगा। फलतः मनुष्यलोक में अनाचारों की वृद्धि होजायगी। इस मौके पर भगवान्

विष्णु को एक उपाय सूझा। उन्होंने शंकर का पीछा किया और अवसर पाकर धीरे २ सती के समस्त अङ्गों को काट दिया। सती के ये अंग जहां २ गिरे वहीं पर शंकर की अर्धाङ्गिनी के रूप में देवी का आविर्भाव हुआ। और शंकर भी उन स्थानों में अनेक रूप से प्रतिष्ठित हुये।

ज्वालामुखी पर्वत के ऊपर सती की जिह्वा (जीभ) गिरी और वह सती के देह से पहले निकले हुये आलोकमय तेज के साथ अग्निज्वाला के रूप में परिणत होगई। जिन इक्यावन स्थानों पर सती के अवयव उस समय गिरे वे ही बाद में 'शक्तिपीठ' के नाम से प्रसिद्ध होगये।

काव्यगत-चमत्कार-कवि ने जहां एक ओर ज्वालादेवी के सहज सुन्दर पर्वतीय दृश्यों का संयत और भावपूर्ण प्राकृतिक वर्णन किया है वहां दूसरी ओर उनके अलौकिक प्रभाव का भी हृदय-ग्राही चित्रण किया है। यही नहीं, पौराणिक धरातल से ऊपर उठकर, कविजनोचित हृदय से, भक्तिरस की धारा प्रवाहित करते हुये जिस अनोखी सूझ-बूझ के साथ अपने भावोद्गार प्रकट किये हैं, वे बहुत ही मार्मिक हैं। यहां उदाहरण के लिये केवल दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

'मन्ये विहारकुतुकेषु शिवानुरूपं
रूपं न्यरूपि खलु यत्सहसा भवत्या।
तत्सूचनार्थमिह शैलवनान्तराले
ज्वालामुखीत्यभिधया स्फुटमुच्यसेऽद्य ॥४॥
सत्या ज्वलत्तनुसमुद्गतपावकार्चि-
र्ज्वालामुखीत्यभिमृशन्ति पुराणमिश्राः।
आस्तां, वयं तु भजतां दुरितानि दग्धुं
ज्वालात्मना परिणता भवतीति विद्मः ॥५॥'

(ईहाष्टक श्लोक. ५. ६.)

भावार्थ-शिव अग्निरूप हैं, इसलिये उनको त्रिलोचन कहा जाता है। आप शिव की अर्धाङ्गिनी कहलाती हैं, अतः उनके साथ अपनी एकरूपता प्रमाणित करने के लिये ही मानों आप पर्वत और जङ्गल के मध्य में ज्वालामुखी नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। इसीलिये 'अग्नीसोमात्मकं जगत्।' यह उक्ति चरितार्थ होती है।

पौराणिक आचार्य-महानुभाव सती के योगाग्नि-दग्ध शरीर की ज्वाला से आपके इस ज्वालामय शरीर की उत्पत्ति भले ही बतलाते हों, और यह भी संभव है कि यह पौराणिक आख्यान तथ्यभूत भी हो किन्तु हम इस पौराणिक पचड़े में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त मानते हैं कि भक्तों के ज्ञात-अज्ञात पापकर्मों को भस्म कर देने के लिए ही आप ज्योति-शिखा के रूप में प्रकट हुई हैं।

२–व्रजेश्वरी–कांगड़ा में वज्रेश्वरी देवी जिनको महामाया भी कहते हैं–का अतिप्राचीन ऐतिहासिक मन्दिर है। आगम की परिभाषा में इस पवित्र भूमि का ही दूसरा नाम 'जालन्धर पीठ' है। इसकी गणना शक्ति के प्रधान तीर्थों में की गई है। शक्ति के सुप्रसिद्ध इक्यावन पीठों में जालन्धर पीठ महाशक्ति पीठ माना जाता है। महालक्ष्मी का निवास स्थान होने से इसकी गणना प्रमुख शक्ति-पीठों में की गई है। यहीं पर भगवती वज्रेश्वरी और ज्वालादेवी का प्रधान आवास माना गया है। उक्त दोनों देवियों का उल्लेख देवी भागवत में पाया जाता है। (देखिये देवी. भाग. ७ स्कन्ध ३८ अ. ६ श्लोक) इसी प्रकार पद्मपुराण में भी 'जालन्धरे विष्णुमुखी' ऐसा उल्लेख मिलता है।

पुराणों के लेखानुसार देवराज इन्द्र ने किसी समय भगवती की प्रसन्नता के लिये तपस्या की थी, उसके फलस्वरूप महामाया ने सन्तुष्ट होकर अपने प्रसाद के रूप में इन्द्र को अमोघ-शक्ति वाला वज्र प्रदान किया था। इन्द्र को अभीष्ट वज्र देने के कारण तब से इनका नाम वज्रेश्वरी पड़ गया। उक्त कथा विस्तृत रूप से ब्रह्माण्ड-पुराण में पाई जाती है। ललिता–सहस्रनाम में–'शृङ्गाररससंपूर्णा जया जालन्धरस्थिता।' इत्यादि उल्लेख इस पीठ के महत्त्व का परिचायक है। आगम-ग्रन्थों में भी इस पीठ का बड़ा महत्व बतलाया गया है।

मकर-संक्रान्ति के दिन यहां एक बड़ा मेला भरता है। और घृत तथा तरह तरह के मेवा आदि भगवती को चढाये जाते हैं। इसके सिवा यहां चैत्र और आश्विन के नवरात्रों में विशेष रूप से देवीजी के दर्शनार्थ दूर-दूर से आने वाले यात्रियों का तांता सा लगा रहता है। प्रत्यक्षदर्शी आप्तवृद्धों का कथन है, कि यहां आने वाले दर्शकों की मनोभिलाषा प्रायः पूर्ण होती देखी गई है। मन्दिर की सेवा पूजा का प्रबन्ध भी चिरकाल से सुव्यवस्थित रहता आया है। यहां के मन्दिर प्रबन्धकों की यह विशेषता रही है कि वे स्वयं कर्मनिष्ठ और आगमोक्त

पूजा पद्धति के मार्मिक ज्ञाता एवं विद्वान् होते रहे हैं, और साथ ही जनता के विश्वास-भाजन रहते आये हैं।

३—देवकाली—उत्तर प्रदेश के, फैजाबाद नगर के दक्षिण, सिटी रेलवे स्टेशन से थोडी ही दूर पर 'देवकाली' देवी का प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर है। कई शताब्दियों तक यह प्रदेश अयोध्या राज्य के अन्तर्गत रहा है। किन्तु अवध (अयोध्या) के नबाबों के समय में यह प्रदेश प्राचीन अयोध्या से अलग कर लिया गया था और मुस्लिम शासकों ने इसका स्वतंत्र नाम करण फैजाबाद कर दिया था। वास्तव में फैजाबाद बनने से पूर्व का यहां का इतिहास अयोध्या के इतिहास के ही अन्तर्गत है। ईसवी सन् १७६० में अवध के नबाब शुजाउद्दौला ने फैजाबाद को अवध की राजधानी बना लिया, और इस प्रकार अठारहवीं सदी से यहां के इतिहास की दिशा बदल गई। कई वर्ष हुए हिन्दी के पुराने प्रतिष्ठित लेखक अवधवासी स्वर्गीय लाला सीताराम बी. ए. उपनाम 'भूप कवि' ने अयोध्या का जो इतिहास लिखा है, उसमें पौराणिक काल और उसके बाद होने वाले अब तक के अयोध्या संबन्धी ऐतिहासिक परिवर्तनों और कायाकल्पों का जो प्रामाणिक विवेचन किया है, वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण और अध्येतव्य है। उसमें अयोध्या के प्राचीन और नवीन दोनों तरह के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

(देखिये—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'अयोध्या का इतिहास')

उक्त देवकाली का मन्दिर लोक प्रसिद्धि के अनुसार इक्ष्वाकुवंशी किसी सुदर्शन नामक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि प्रचलित 'विष्णु पुराण' में सूर्यवंशी राजाओं की जो वंशावली प्राप्त होती है, उसमें इनका नाम नहीं पाया जाता। किन्तु पौराणिक विद्वानों की मान्यता है कि ये इक्ष्वाकुवंश के ही कोई पूर्वपुरुष थे। कारण वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड में राम के विवाह प्रसङ्ग में वसिष्ठ द्वारा शाखोच्चार के समय जिन पूर्ववर्ती राजाओं का नाम गिनाया गया है, उनमें उनतीसवां नाम सुदर्शन का आता है, और इसलिए यह मान लेना तर्कसङ्गत प्रतीत होता है, कि ये राम के पूर्वज वही सुदर्शन हैं। इस कथन में कहां तक तथ्य है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पौराणिक राजबंशों के सम्बन्ध में इतिहास लेखकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। किन्तु इतना तो निश्चित ही है, कि इस प्रतिमा की स्थापना सुदर्शन नामक राजा के द्वारा हुई है।

भले ही वे इक्ष्वाकुवंशी या अन्य किसी राजवंश के क्यों न रहे हों। इस नाम के सम्बन्ध में पुष्पाञ्जलिकार ने प्रस्तुत देवकाली-स्तोत्र के उपसंहार में जो श्लोक लिखा है, उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है—

'अयोध्याप्रान्तवासिन्याः सुदर्शनकृतस्थितेः ।
देवकाल्याः स्तोत्रमेतत् पठतां घटतां शिवम् ॥'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त प्रतिमा अति प्राचीन काल से अवध-प्रान्त में प्रसिद्ध चली आती है। जहां तक जाना गया है, इससे प्राचीन प्रतिष्ठित अन्य कोई शक्ति-प्रतिमा उस प्रान्त में नहीं है।

मन्दिर के सामने एक विशालवापी (बावड़ी) है जो अनुमानतः मन्दिर के समसामयिक बनी हुई प्रतीत होती है। क्योंकि प्रायः ऐसे स्थानों की स्थिति अधिकतर निर्जन-प्रदेश में ही हुआ करती थी, और वहां जल-सुलभ करने की दृष्टि से बावड़ी या तालाब बनवाये जाने की प्राचीन भारत में व्यापक प्रथा थी। आजकल इसके आस पास अनेक धनिकों ने बड़ी-बड़ी कोठियां बनवा डाली हैं, जिससे अब इस स्थान के चारों ओर काफी चहल पहल होगई है, किन्तु तीर्थ के प्राचीन महत्व को इससे धक्का पहुँचा है। खासकर, इसके समीप एक आयल फैक्टरी खुल जाने से कुण्ड के मधुर जल की जो क्षति हुई है और जिस प्रकार जल में तैलांश का सञ्चार होगया है, वह यात्रियों तथा स्वयं मन्दिर के महत्व की दृष्टि से भी चिन्ता का विषय है। अस्तु; यों तो इस प्रान्त की अधिकांश शिक्षित और अशिक्षित जनता का यहां प्रायः नित्य ही जमघट लगा रहता है किन्तु विशेष रूप से श्रावण के महीने में और अन्य प्रसिद्ध पर्वों पर दर्शनार्थियों और मानता वाले लोगों की यहां काफी भीड़ हो जाया करती है। यहां इन्हीं देवकाली की महिमा का वर्णन दुर्गा-पुष्पाञ्जलि में किया गया है। उदाहरणार्थ दो छन्द उद्धृत किये जाते हैं—

'ते देवकालि ! कलिसम्पदमर्दयन्ति
दुर्वासनान्धतमसानि विमर्दयन्ति ।
सौभाग्यसारिणि ! जगन्ति पवित्रयन्ति
ये श्रीमतीं हृदयवेश्मनि चित्रयन्ति ॥'

'ते देवकालि ! सुखसूक्तिमदभ्रयन्ति
विद्याकलापकृषिमण्डलमभ्रयन्ति ।

देशान्तरेषु चरितानि विशेषयन्ति
ये शर्मधाम तव नाम निरूपयन्ति ॥'

(देवकाली-महिमा श्लो० ५, ६)

भावार्थ—हे देवकालि ! जो लोग आपको अपने हृदय मन्दिर में चित्रित करते हैं, उनपर कलि का दुष्प्रभाव असर नहीं डाल पाता—साथ ही अनेक दुर्वासनाओं के रूप में प्रकट होने वाले घोर अन्धकार का भी वे लोग सफलता पूर्वक दमन कर देते हैं। इतना ही नहीं—आप सुख सौभाग्य की अक्षय भंडार हो—अतः आपके भक्तों के संपर्क में आने वाले अन्य सांसारिक जन भी आपकी कृपा के प्रभाव से पवित्र होजाते हैं।

हे देवकालि ! आपके भक्तों के मुख से जो सुखद उक्तियां निकलती हैं, उनका शुभपरिणाम चतुर्गुणित बन जाता है। वे लोग ज्ञान-विज्ञान और कला कौशल रूपी कृषि समूह के लिए बादलों का काम करते हैं—अर्थात् वर्षा होने पर जिस प्रकार कृषि (खेती) की पैदावार बढ जाती है, उसी प्रकार भक्तजनों की विद्या संबन्धी प्रवृत्तियां खूब फलती फूलती हैं। न केवल स्वदेश ही में, बल्कि दूसरे देशों तक में उनके चरित्र की विशेषताओं का बखान किया जाता है। परन्तु यह सब महत्त्व उन्हीं लोगों को प्राप्त होता है—जो आपके मङ्गलमय नाम का नियमित स्मरण करते हैं।

४-**चण्डिका**—उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से दक्षिण की ओर १६ मील पर चण्डी देवी का यह सुप्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर है। उत्तर रेलवे की लखनऊ-सीतापुर लाइन पर चौथा स्टेशन 'बक्सी का तालाब' है। यहां एक विशाल ऐतिहासिक तालाब है जो कि इस प्रान्त में काफी प्रसिद्ध चला आता है। बक्सी महाशय शाही जमाने में किसी उच्च सरकारी पद पर आसीन थे और उन्होंने ही यह तालाब बनवाया था, तभी से यह स्थान उनके नाम से प्रसिद्ध होगया। तालाब का आकार प्रकार वास्तव में कलात्मक और दर्शनीय है। उसे देखने पर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शाही जमाने की छोटी-छोटी किन्तु सुन्दर लखोरी ईंटों से बना हुआ, यह तालाब सचमुच किसी समय दर्शकों के आकर्षण की वस्तु रही होगी। निर्माणकर्ता ने प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार जनता के लाभार्थ इस पर लाखों रुपये व्यय किये होंगे। किन्तु आजकल

उसकी वर्तमान जीर्ण-शीर्ण अवस्था को देखकर उसके दुर्भाग्य पर तरस आता है । यहां के खरबूजे बड़े मधुर और सुस्वादु होते हैं। किन्तु प्रायः लखनऊ के लक्ष्मीपतियों को ही उसका रसास्वादन सुलभ होता है। अस्तु। रेलमार्ग से आने वाले यात्री यहीं उतरते हैं । चण्डीजी का स्थान यहां से ६ मील पड़ता है। आजकल रोड़वेज पर सरकारी वस सर्विस के चल जाने से यातायात की सुविधा अधिक सुलभ होगई है। अधिकतर नागरिक यात्रियों का दल रोडवेज द्वारा ही यहां पहुँचा करता है। यहां से एक कच्ची सड़क चण्डीजी के आश्रम तक चली गई है । मन्दिर से लगभग २ फर्लाङ्ग पहले ही 'चांदन कूँड़ा' नामक एक गांव पड़ता है जो चण्डीजी के नाम से ही प्रसिद्ध होगया है। यात्रियों को हवन-पूजन की सामग्री यहीं से खरीदनी होती है।

चण्डीजी का मन्दिर निर्जन प्रदेश में गोमती नदी के तट पर स्थित है। किन्तु नदी का वास्तविक रूप यहां विलीन होकर तालाब के रूप में बदल गया है- यह इसकी विशेषता है। चण्डीजी के इस जलाशय को देखकर अपरिचित व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि वास्तव में गोमती का ही यह प्रच्छिन्न रूप है। वैसे गोमती का जल प्रवाह-मार्ग स्वभाविक ढङ्ग से बहुत टेढा-मेढा और दुर्गम है। तो भी यत्र तत्र उनका अद्भुत रूप परिवर्तन देखकर आश्चर्य होने लगता है। उक्त जलाशय (कुंड) का पानी बहुत मधुर और शीतल है। यात्री लोग इसी जल से स्नान करते हैं और यही जल मन्दिर की सेवा-पूजा तथा पीने के काम में भी लाया जाता है। तालाब की गहराई का सही अनुमान लगा सकना कठिन है।

ऐतिहासिक मान्यता—चण्डीजी के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। केवल किंवदन्तियों अथवा दन्तकथाओं के आधार पर ही अपेक्षित तथ्य जाना जा सकता है। इस स्थान के सम्बन्ध में स्थानीय जनता में चिरकाल से अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। जो कि सत्य के निकट पहुँचने में सहायक हैं। यहां संक्षेप में उनका सार उपस्थित किया जाता है-

प्राचीनकाल में यहां एक दुर्गम और घना जङ्गल था, जो कि तालाब के चारों ओर दूरतक फैला हुआ था। इस जगह एक ऊँचा और विशाल निम्ब का वृक्ष था। उसके आलवाल के रूप में चारों तरफ से एक चबूतरा बना हुआ था, जो चण्डीजी के चबूतरे (चत्वर) के नाम से प्रसिद्ध था। हमारे देश में निम्ब

देववृक्षों में गिना जाता है, और इसलिए उक्त वृक्ष का यह चबूतरा ही चण्डीजी के रूप में पूजा जाने लगा।

अठारहवीं सदी के मध्य से इस स्थान की महिमा बढने लगी, और वह बहुत दूर २ तक फैल गई। स्थानीय वृद्धों के मुख से सुना जाता है कि विद्यानाथ नाम के कोई तपस्वी महात्मा भ्रमण करते हुये किसी समय इस अरण्य प्रदेश में आगये थे। उन्होंने 'सरिद्‌गर्भस्तडागः सिद्धिभूः।' अर्थात् नदी के मध्य में यदि कहीं प्राकृतिक तालाब बन जाय तो वह सिद्ध स्थान होता है। इस आगमोक्त आधार पर उन्होंने इस प्रदेश को 'सिद्धपीठ' मानकर यहीं पर तपस्या करना आरम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में उन्हें कई आश्चर्यजनक चमत्कार दृष्टिगोचर हुये और कुटी बनाकर वे यहीं रहने लगे। एक अर्से तक यहां रहकर उन्होंने आध्यात्मिक साधना की, किन्तु शनैः-शनैः जब यहां जन-संचार बढ़ने लगा तो वे इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये, और दुबारा फिर यहां नहीं लौटे।

इस प्रान्त में यह प्रसिद्धि भी है कि सर्वप्रथम उक्त महात्मा के समय में ही इस सरोवर में कमलपुष्पों की उत्पत्ति हुई थी, जिन्हें वे भगवती को चढाया करते थे। किन्तु उनके चले जाने के बाद इन पुष्पों का उद्गम स्वतः बन्द होगया। अब तो वहां कमलपुष्पों की कोई चर्चा ही नहीं रह गई है।

कालक्रम से, चण्डीजी का महत्व दूर-दूर तक फैलता गया और जनता अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के निमित्त इस ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई। कुछ ही समय बाद, जब यहां आने वाले यात्रियों की संख्या हजारों तक पहुँचने लगी, तब यहां प्रतिमास अमावस्या के दिन एक मेला भरने लगा और इस प्रकार नगर तथा देहात के सभी श्रेणी के लोग अपने अपने अभीष्ट को लेकर यहां आने लगे, और प्रायः सफल मनोरथ हुये। जहां तक ज्ञात हुआ है, उक्त महात्मा साधक के यहां निवास करने के बाद से ही इस स्थान का महत्व दिन प्रतिदिन बढता गया और हजारों दर्शनार्थी यहां आने लगे। इनके समय तक यहां कोई मूर्ति न थी, केवल चबूतरे के ऊपर ही जनता पत्र-पुष्प चढ़ाया करती थी।

वीसवीं सदी के आरम्भ में चण्डीजी की प्रेरणा से इसी प्रान्त के एक अन्य तपस्वी महात्मा सरस्वत्यानन्दनाथ देशाटन करते हुये प्रसङ्गवश यहां आ पहुंचे। वे भी विरक्त प्रकृति के एकान्त प्रिय साधक थे। उन्होंने कई वर्ष तक यहां रहकर

तपस्या की, और इस स्थान की गौरव-वृद्धि में सहायक बने। कहा जाता है कि इनके समय में पुनः इस तालाब में कमल-पुष्प उत्पन्न होने लगे थे और उनके निवास के समय तक यहां यही क्रम चलता रहा। इनके निवास के कारण इस तपोभूमि का महत्व और अधिक बढा तथा आस पास की गरीब जनता इनके सम्पर्क में आने लगी। यहां रहते हुये उक्त महापुरुष ने जन-साधारण का लौकिक उपकार तो किया ही साथ ही, जनता के बढते हुये अनुराग और भावना को देखकर दैवी प्रेरणा से प्राचीन चबूतरे के निकट महिषमर्दिनी की एक प्रतिमा भी स्थापित की जो आज भी विद्यमान है।

इस प्रकार चण्डी जी की महिमा उत्तरोत्तर प्रान्त व्यापी बनती गई और लखनऊ तथा उसके आस पास की नागरिक एवं ग्रामीण जनता भगवती की कृपा-भाजन बन गई।

चण्डीजी का यह आश्रम पहले की अपेक्षा अब पर्याप्त उन्नति कर चुका है। लखनऊ के भक्त धनिकों ने यहां यात्रियों के लिये स्वतन्त्र धर्मशाला बनवादी है। इसके सिवा पुष्प-वाटिका तथा अन्य सुविधाजनक आवश्यक साधन भी उन लोगों की ओर से जुटा दिये गये हैं, और अब वहां जाने वाले यात्रियों के लिए पहले जैसी कोई विशेष असुविधा नहीं रही है। सुना जाता है कि यातायात बढ जाने के कारण बक्सी तालाब से चण्डिकाश्रम तक पक्की सड़क बनाये जाने की योजना सरकार के समक्ष विचाराधीन है; आशा है, जनता की यह इच्छा-पूर्ति निकट भविष्य में पूरी होकर रहेगी।

चण्डिका स्तुति में इन्हीं भगवती चण्डिका के आश्रम का प्राकृतिक वर्णन तथा जङ्गल में मङ्गल करने वाली इनकी असाधारण महिमा का चित्रण किया गया है। पृथ्वीछन्द में निर्मित संस्कृत की यह सरस स्तुति उनकी महिमा के अनुरूप बहुत सुन्दर बन पड़ी है। परिचयार्थ उसके कुछ श्लोक यहां दिये जाते हैं—

'अनुग्रहरसच्छटामिव सरःश्रियं यान्तिके
विकासयति, पद्मिनीदलसहस्रसन्दानिताम्।
प्रतिक्षणसमुन्मिषत्प्रमदमेदुरां तामहं
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम्॥'

'इतस्तत उदित्वरप्रततिनद्धवृक्षावली-
लुलद्विहगमण्डलीमधुररावसंसेविताम् ।
स्खलत्कुसुमसौरभप्रसरपूर्यमाणाश्रमां
भजामि भयखण्डकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ।।'

'द्विषत्कुलकृपाणिकां, कुटिलकालविध्वंसिकां
विपद्वनकुठारिकां, त्रिविधदुःखनिर्वासिकाम् ।
कृपाकुसुमवाटिकां, प्रणतभारतीभासिकां
भजामि भयखण्डकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ।।'

(चण्डिका-स्तुति ४. ७. ८)

भावार्थ—जो अपने पास में स्थित सरोवर की शोभा को सहस्रदलकमलों के विकाश के द्वारा प्रफुल्लित करके मानो अपने कृपामृत की प्रचुरता का ध्यान दिलाती है। एवं प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली हर्षप्रद घटनाओं के सृजन करने कारण अत्यन्त स्निग्धस्वभाववाली तथा भय को दूर भगाने वाली माता चण्डिका की शरण लेता हूँ।

जिनके आश्रम में विकसित लताओं एवं वृक्ष-श्रेणियों में स्वच्छन्दता से इधर उधर विहार करने वाले पक्षियों के झुण्ड अपने मधुर कलरव द्वारा भगवती की सेवा करते हैं। तथा वृक्षों से गिरने वाले विभिन्न पुष्पों की सुगन्ध से जिनका आश्रम महका करता है। ऐसी अलौकिक प्रभावशालिनी का स्मरण करता हूँ।

जो शत्रुवर्ग के लिए कृपाण की धारा हैं; और कुटिल काल का भी अन्त करदेने वाली हैं; विपत्तियों के वन को जो सहज ही कुठार की तरह काट देती हैं; और त्रिविध दुःखों को दूर करने वाली हैं, जो कृपारूपी पुष्पों की फुलवाडी हैं; और केवल प्रणाम करने मात्र से ही अभीष्ट विद्याओं का प्रकाश करने वाली हैं—ऐसी भगवती चण्डी की वन्दना करता हूँ।

परिमल—पुष्पाञ्जलि की रचना की प्रौढता एवं आगमोक्त अर्थों की गम्भीरता को देखते हुए यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि इसके साथ एक व्याख्या का होना भी आवश्यक है। जिससे कि स्तोत्रों के प्रतिपाद्य अर्थों का अनुगम सरलता से हो सके। तदनुसार स्तोत्रगत अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए 'परिमल' नामक विवृति भी इसके साथ लगादी गई है। परिमल को लिखने में यह ध्यान रखा गया है कि यथासंभव सरल और सुबोध शैली में, साथ ही संक्षेप में, आवश्यक विवरण दिया जाय ताकि अनावश्यक कलेवर-वृद्धि से बचा जा सके और पाठकों को किसी प्रकार की अरुचि भी न हो। क्योंकि लम्बी-चौड़ी व्याख्याओं को पढने वालों की संख्या प्रायः कम ही हुआ करती है और अधिकतर, पढने वालों को भी इससे अरुचि होने लगती है। अतएव इन सभी बातों को दृष्टि में रखकर ही यह परिमल लिखा गया है। फिर भी, विषय गांभीर्य के कारण कुछ स्तोत्रों में अपेक्षित स्पष्टीकरण आवश्यकतानुसार करना ही पडा है। इसके सिवा, प्रकरणागत दर्शन-संबन्धी विचारों को अधिक न फैलाकर केवल नपे तुले शब्दों में सारभूत विश्लेषण करके ही छोड दिया है। ताकि सिद्धान्त-भूत बातों का परिचय भी होजाय, और व्यर्थ के वितण्डावाद और ननु-नच एवं किन्तु परन्तु के झमेलों और शाखा-प्रशाखाओं से भी बचा जाय। इसी प्रकार जहां आवश्यकता समझी गई है वहां प्रमाण के रूप में उस विषय के सहायक और मान्य ग्रन्थों का उल्लेख, तथा उनके कुछ चुने हुए उद्धरण भी दे दिये गये हैं। इतना सब होते हुए भी विवृति-लेखक अपने प्रयास में कहां तक सफल हो सका है यह देखना विद्वानों का काम है। मैं तो यहां इतना ही कहना चाहूँगा कि जहां तक मूल रचना में वर्णित अर्थों की योजना और उपयोगिता का संबन्ध है दोनों ही बातों को लक्ष्य में रखकर ही यह प्रस्तुत की गई है। यदि इससे स्तोत्र साहित्य के रसिकों को कुछ भी संतोष हुआ, तो यह प्रयास सफल समझा जायगा।

द्विवेदीजी के ग्रन्थों के प्रकाशन का उपक्रम

द्विवेदी जी के अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित करने का विचार एक अर्से से चल रहा था। इधर इस सम्बन्ध में कुछ साहित्य-सेवी मित्रों और सहयोगियों ने भी यथासमय आग्रहपूर्ण अनुरोध किये। किन्तु परिस्थितियां कुछ ऐसी विषम चल रही थीं कि इस विचार को मूर्तरूप दे सकना संभव न होसका। कारण यह था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में कुछ ऐसे परिवर्तन आये कि यहां का सामाजिक और आर्थिक ढांचा एकदम बदल गया। या यों कहिये कि जनतन्त्र युग का आरम्भ होने के साथ साथ समाज की प्रवृत्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगया। संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की गतिविधि यों तो पहले भी विशेष आशाप्रद न थी, किन्तु फिर भी इतनी निराशाजनक स्थिति न बनी थी। स्वराज्य के मिलते ही कुछ ऐसी हवा चली कि संस्कृत की ओर जनता की जो थोड़ी बहुत अभिरुचि थी उसको भी धक्का लगा और वह शिथिल पड़ती गई। यहां तक कि संस्कृत के प्रति समाज में निराशा का वातावरण छागया। ऐसी अवस्था में, संस्कृत साहित्य के प्रकाशन की कौन कहे, संस्कृत का नाम लेते ही लोगों के मुख पर उपेक्षा और उदासीनता के भाव स्पष्ट झलकनें लगते। वैसे अवसर आने पर संस्कृत की सहानुभूति में दिल खोलकर लम्बी शब्दावलियों द्वारा प्रशंसा के पुल बांधने का क्रम अवश्य चलता रहा। किन्तु सहयोग करने का प्रश्न सामने आते ही प्रकारान्तर से नकारात्मक उत्तर मिलने के सिवाय कोई परिणाम न निकला। इधर संस्कृत पुस्तकों के प्रकाशकों से जब इस विषय में बातचीत चलाई तो उनमें भी आवश्यक उत्साह का अभाव पाया। कारण, आज के व्यावसायिक युग में उनका एक मात्र लक्ष्य पुस्तक प्रकाशन द्वारा अधिक से अधिक आर्थिक लाभ लेना है। स्कूलों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों और उनके नोट्स् को जो कि बाजार में धड़ल्ले से बिक जाते हैं, छोड़कर, संस्कृत साहित्य के स्वतन्त्र प्रकाशन की ओर वे भला ध्यान ही क्यों देने लगे ? क्योंकि इन प्रकाशनों में उन्हें उस अनुपात में लाभ होने की संभावना कहां ? अतएव मैंने सोचा कि इस समय इसकी चर्चा चलाना ही निरर्थक है इसलिए अभी कुछ समय तक और चुप रहा जाय, और अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा की जाय।

इधर कुछ ही दिनों बाद, वर्तमान अलवर-नरेश महाराज श्री तेजसिंहजी महोदय, जो कि भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रेमी नरेश हैं, के आमन्त्रण पर

मुझे अलवर जाने का अवसर मिला। साहित्यिक चर्चा के प्रसङ्ग में पुष्पाञ्जलि के प्रकाशन की बात उनके सामने आई और उन्होंने इसके लिये आर्थिक सहयोग देने का निश्चय प्रकट किया और किसी हद तक सहयोग दिया भी। इसी प्रकार इस सिलसिले में जयपुर के साहित्य एवं कला प्रेमी रईस ठाकुर श्यामकरणसिंहजी से भी प्रसङ्गवश चर्चा हुई और उन्होंने भी इसके प्रकाशन में रुचि दिखलाई और कुछ आर्थिक सहयोग भी दिया। तदनुसार उक्त पुस्तक के प्रकाशन की सारी तैयारियां पूरी करली गईं और कागज आदि की उपयुक्त व्यवस्था भी आवश्यकतानुसार बिठाली गई। किन्तु संयोगवश इसी बीच नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ के दोनों मालिकों में आपसी बटवारा छिड़ गया और प्रेस में भारी अव्यवस्था फैल गई। प्रेस मालिकों के साथ अपने पुराने संबन्धों को देखते हुए हमारे सामने चुप रहने के सिवा कोई विकल्प न रहा। इसके कारण प्रकाशन तो रुक ही गया साथ ही आर्थिक हानि भी उठानी पड़ी जो कि अनिवार्य बन गई थी, और प्रकाशन का विचार कुछ समय के लिए स्थगित कर देना पड़ा।

राजस्थान-पुरातत्त्वान्वेषण-मन्दिर,
द्वारा
पुष्पाञ्जलि का प्रकाशन।

सन् १९४९ में जब संस्कृत कालेज जयपुर में साहित्य के व्याख्याता (Lecturer) के पद पर मेरी नियुक्ति हुई, तो मुझे इस ओर ध्यान देने का पुनः अवसर मिला। मैने द्विवेदीजी के कतिपय अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ आवश्यक सहयोग दिये जाने के सम्बन्ध में राजस्थान सरकार से प्रार्थना की। इस प्रसंग में संस्कृत कालेज के तत्कालीन कार्यवाहक प्रिंसिपल और राजस्थान संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक श्री के० माधवकृष्ण शर्मा एम० ओ० एल० महोदय ने इस ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने में अपना जो सहयोग दिया उसके लिये उन्हें धन्यवाद देना संपादक अपना कर्तव्य समझता है।

सरकार ने राजस्थान-पुरातत्त्वान्वेषण-मन्दिर के सम्मान्य संचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्रीजिनविजय जी से इस संबन्ध में सम्मति मांगी, और मुनिजी ने पुरातत्त्वान्वेषण-मन्दिर द्वारा उक्त पुस्तकों का प्रकाशन करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार उक्त विभाग द्वारा सर्वप्रथम 'दुर्गा-पुष्पाञ्जलि' के प्रकाशित करने का निश्चय किया गया।

मुनिजी ने इसका संपादन सम्बन्धी कार्यभार मुझ जैसे अल्पज्ञ-व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया। मैंने उनके आदेश का पालन करते हुए यथाशक्ति अपने दायित्व को निभाया और यह कार्य पूरा किया। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि यह जो कुछ जैसा भी बन पडा है उसका श्रेय वास्तव में मुनिजी महाराज को है। क्योंकि यदि समय २ पर उनके द्वारा प्रेरणा और सत्परामर्श न मिलता रहता तो यह कार्य इस रूप में संभव न हुआ होता। अतः संपादक उनके बहुमूल्य सहयोग के लिए हार्दिक आभार मानता है। इसके अतिरिक्त, उक्त मन्दिर के प्रधान अनुसन्धान कार्य व्यवस्थापक पं० श्री गोपालनारायणजी बहुरा एम. ए., महोदय ने जिस तत्परता और लगन के साथ इसके प्रकाशन कार्य में अपना सौहार्दःपूर्ण योग दिया है उसके लिए संपादक उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ है। प्रूफ आदि के संशोधन में जयपुर राज्य के परंपरागत पञ्चाङ्ग-कर्ता पं० मदनमोहन शर्मा ने जो श्रम किया है, तदर्थ उन्हें धन्यवाद है।

अंत में, यदि स्तोत्र-साहित्य के प्रेमियों को इससे कुछ भी संतोष मिला, तो मैं अपना यह प्रयास सार्थक समझूंगा।

'सरस्वती पीठ'
जयपुर
२७-१२-५६ ई०

—गंगाधर द्विवेदी

❀ ॐ नमः शिवाय ❀

महामहोपाध्याय-पण्डित-श्री-दुर्गाप्रसाद-द्विवेद-विरचितः

दुर्गा-पुष्पाञ्जलिः ।

परमार्थाकलनम् ।

सता चितानन्दरसेन जुष्टं स्वयंप्रकाशं गुरुमाश्रितोऽस्मि ।
यस्माद् विमर्शादिव मेयमानं परादिसंविन्मयमाविरस्ति ॥१॥

*** परिमलः ***

यद्वक्त्रपीयूषमयूखबिम्बं प्रेम्णा समं सेवितुमक्षराजिः ।
उपेयुषी हारलतामिषेण नरीनर्तु सा कापि ममास्यरङ्गे ॥१॥

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दे गुरोस्तच्चरणारविन्दम् ।
यस्य प्रसादादयमात्मतुष्टेरुपक्रमः कोऽपि विजृम्भतेऽत्र ॥२॥

स्वान्तर्विमर्शद्रुमसौरभोद्यद्भावप्रसूनानि महेश्वरस्य ।
उच्चित्य सन्तः स्फुरदार्द्रभावाः श्रेयोऽभिवृद्ध्यै हृदि भावयन्तु ॥३॥

१ – सतेति । सता संप्रतिपत्तिरूपया सत्तया । श्रूयते चोपनिषदि –

'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

अस्तेर्धातोः शतरि सन्निति, ततः सतेति । सतेत्यनेन या सत्तोक्ता सैव चित्त्वमुच्यते । सत्त्वचित्त्वयोश्च सामरस्यं आनन्दः । स च रसनाद् रस इत्युच्यते । तेन जुष्टम्, आनन्दरसैकनिर्भरम् । स्मरन्ति च शास्त्रकृतः–

'या चित् सत्त्रैव सा प्रोक्ता सा सत्त्रैव चिदुच्यते ।
यत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्रानन्दो विराजते ॥
यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः ।'

१–दुर्गो नाम दैत्यविशेषः । 'यं हत्वा चण्डिकायास्तु दुर्गा नाम बभूव ह' इति । तथा 'तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् । दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसि तरसे नमः ॥' (तैत्ति० आर० १० प्रपा० १ अनु०) इत्यादि श्रुतिरपि ।

तदेवं सच्चिदानन्दस्वरूपः स्वात्मैव परमेश्वर इति प्रतिष्ठितं भवति । उक्तञ्च आचार्यैः—

'सच्चित्सुखमयः शम्भुस्त्रिरूपः सर्ववस्तुषु ।'

स्वयंप्रकाशं अन्यानपेक्षप्रकाशैकरूपं चैतन्यमहेश्वरं विश्वप्रतिष्ठाभूमिमिति यावत् । तथा च प्रत्यभिज्ञाशास्त्रे—

'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना ।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता ॥'

गृणाति प्रकाशयति विश्वव्यवहारमिति गुरुः । सर्वानुग्राहकः स्वात्ममहेश्वरः, तम् । आहस्म भगवान् पतञ्जलिः—

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।'
'तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् ।'

(योगदर्श० १. २४–२५)

शिवसूत्रेष्वपि—'गुरुरुपाय' इति । आश्रितोऽस्मि शरीरादिकृत्रिमाहंकारगुणीकारेण तदेकसामरस्यभावमापन्नोऽस्मि । यस्मात् प्रकाशपरमार्थात्, विमर्शादिव इच्छाशक्तेर्वैभवभरादिव, मेयमानं, मातुं योग्यं मेयं विश्ववर्त्तिवेद्यवर्गः, तस्य मानं उत्कर्षकक्षाधिरोहणं, परादिसंविन्मयं, पराद्यनन्तशक्तिव्रातरूपेण स्फुरत् संविदेकरूपत्वम् । ब्रह्ममयं जगदित्यादाविव अभेदार्थको मयट् । आविरस्ति जगदाद्यात्मना प्रकाशते । तथा चोक्तम्—

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

इहेदमनुसन्धेयम्—स्वस्वरूपानन्दानुभवतृप्तोऽपि परमेश्वरो यदा स्वात्मानमेव शब्दार्थात्मकप्रपञ्चात्मना विवर्त्तयितुमिच्छति तदा शिव इति व्यपदेशं लभते । अस्यैव चिद्रूपस्य भगवतः 'विश्वं भवामि' इति परामृशतः आनन्दरूपा विश्वभावस्वभावमयी संविदेव किञ्चिदुच्छूनतारूपा सर्वभावानां बीजभूमिः शक्त्यवस्थां प्रतिपद्यते । अतएव परमार्थदृष्ट्या शिवः शक्तिरिति नार्थान्तरम् । एतदेवाभिप्रेत्य 'शिवः शक्तिरिति ह्येकं तत्वमाहुर्मनीषिणः' इत्यागमविदः । किञ्च, अयमर्थः स्पन्दशास्त्रप्रक्रिययापि—

'यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥' इति प्रकृत्य—

उपास्महे सिद्धि-समृद्धि-सद्म माहेश्वरं ज्योतिरनन्तशक्ति ।
यस्मात् परस्मादिव शासनस्य विश्वस्य जन्म-स्थिति-भङ्गमाहुः ॥२॥
यो गीयते ब्रह्मपदेन सूत्रे वेदागमेऽपीश्वरशब्दितेन ।
तमेकदेवं परमार्थतत्त्वमात्मानमात्मन्यवधारयामि ॥३॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥'

इत्यादिना सिद्धान्तितः साधु संगच्छते । तत्प्रकारस्त्वेवंरूपः – संवित्स्वरूपस्य सर्वप्रकाशकस्य प्रभेव प्रकाशनशक्तिर्या वर्ण-पद-वाक्याजीवभूता अन्तःसंजल्परूपा वाक् , सा एव पदार्थरूपतया बहिर्भवतीति प्रबुद्धहृदयानामनुभवसाक्षिकम् । भोग्यं हि नाम प्रमेयमुच्यते । तच्च सत्यपि तदुपसर्जनवृत्तित्वे प्रमाणशरीरान्नातिरिच्यते । तस्मान्न भोग्यं भोक्तुरतिरिक्तं किमपि पृथक्तया परिगणनीयं भवितुमर्हति । सर्ववस्तूनां अन्ततः प्रमातर्येव विश्रान्तेः । अतश्च अनुभवितैव अनुभाव्यतया आहोस्वित् निष्कृष्य निरूप्यमाणे ज्ञानमेव वा ज्ञेयतया सदा सर्वत्र प्रथत इति संक्षेपः ।

२ – उपास्महे इति । सिद्धयः, स्वात्ममहेश्वरस्य विभूतिस्पन्दाः, अणिमाद्या अष्टमहासिद्धयश्च, तासां समृद्धिः हृदयहारित्वोत्कर्षलक्षणं सौभाग्यम् । तस्य सद्म उत्पत्तिस्थानम् । तत्तत्साधकजनहृदयोल्लासरूपाः चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियानुभवस्मृत्यपोहनात्मकाः धर्मा एव ब्राह्म्यादिमात्रष्टकाधिष्ठिताः सन्तो बहिर्विभूतिरूपतामापद्यन्त इत्यासामष्टकत्वमाख्यायते । माहेश्वरं ज्योतिः स्वसंवित् । प्रकाशैकवपुषः सर्वभूतात्मनः परमेश्वरस्य स्वभावभूतो योऽनवच्छिन्नोऽहंविमर्शः स ज्योतिःपदेन अभिधीयते । यथोक्तमन्यत्र – 'स्वसंवित् त्रिपुरा देवी ।' इति 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी ।' इति च ।

अनन्तशक्ति, अनन्ताः अनवच्छिन्नाः संख्यातुमशक्याः, शक्तयः इच्छा–ज्ञान–क्रियाशक्तीनां पल्लवभूताः ब्राह्म्याद्याः शब्दराशिसमुत्था यस्य तत् । उपास्महे स्वहृदयौन्मुख्येन परामृशामः । उपोपसृष्टादास् धातोः कर्तरि लट् । यस्मात् यतः परस्मात् अन्यस्मादिव शासनस्य स्वोल्लासरूपस्य विश्वस्य सृष्टि-स्थिति – संहाराः प्रवृत्त्युन्मुखाः जायन्ते ।

३ – यो गीयत इति । यः भगवतः पाराशर्यस्य 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

बोभूयते सर्वचराचराणामाधारभूमिः खलु यो हि भूमा ।
विशिष्य यस्य प्रतिमानभूता ब्रह्मादिवृन्दारकतास्ति सोऽहम् ॥४॥

इति वेदान्तसूत्रे ब्रह्मशब्देन, वेदे मन्त्रब्राह्मणलक्षणे, आगमे प्रत्यभिज्ञादिदर्शने च 'ईश्वर' शब्देन गीयते प्रख्याप्यते, तम्, एकदेवं एकं असहायं अद्वितीयं वा देवम् । चिदैक्येन स्फुरणात् भेदस्य अनुपपत्तेः । तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि–

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

अन्या अप्येवंजातीयकाः परःशता श्रुतय उदाहार्याः । तदेवं ईष्टे इतीश्वरापरपर्यायं बृंहतीति ब्रह्मैव देवतानामेका देवता । ततश्च ईश्वर-ब्रह्म-आत्मेति नार्थान्तरमिति भावः । परमार्थतत्त्वं, तत्वदृशा विचार्यमाणे सर्वतत्वानामधिष्ठानभूतं प्राणप्रदमिति यावत् । आत्मानं अनवच्छिन्नचिदानन्दैकघनं आत्मनि अवधारयामि परामृशामि । अहमेव स्वात्ममहेश्वरस्वभावो विश्वात्मना सर्वदा सर्वत्र स्फुरामीत्याशयः । अत्र च शिवसूत्रमवतरति–'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र० १.१.) चैतन्यं चितिः, चेतन आत्मा इति तु राहोः शिरः इतिवत् काल्पनिकम् । वस्तुतस्तु एकमेव सर्वम् । चितिक्रिया प्रकाशाभिमर्शः, तस्य भावः चैतन्यम् स्वातन्त्र्यम् । तदुक्तम्–

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनोरूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥' इति ।

एवमिह एकस्मिन्नपि शिवशक्त्यात्मके चिदानन्दमात्रपरमार्थे प्रकाशविमर्शरूपे वा तत्त्वे संविदद्वैतवादे शक्तिप्राधान्येन व्यवहारः, ईश्वराद्वैतवादे शक्तिमत्प्राधान्येनेति विशेषोऽप्याकलनीयः ।

४–**बोभूयत इति** । खलु इति वाक्यालङ्कारे अव्ययम् । भूमा परमात्मा । वैपुल्यवाचकात् बहुशब्दात् पृथ्वादित्वादिमनिचि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा०सू० ६. ४. १५८) इति प्रकृतेर्भूभावः प्रत्ययादेरिकारस्य लोपश्च । 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ।' धर्मोपपत्तेश्च ।' (ब्रह्मसू० १. ३. ८–९) इति भूमाधिकरणस्थं ब्रह्मसूत्रमप्यनुसन्धेयम । सर्वचराचराणाम्, सर्वेषां रुद्रक्षेत्रज्ञादिप्रमातृप्रमेयरूपाणां चराचराणां जडाजडस्वभावानां आधारभूमिः विश्रान्तिस्थानं अध्यक्षत्वेनानुप्रविष्टमित्यर्थः । बोभूयते पुनःपुनरतिशयेन वा भवति । भवतेर्य-

प्रथाकथाकारकलामुपेतो, ब्रह्मा च विष्णुश्च ततश्च रुद्रः ।
यानाश्रयन्ते समवायिनीव, सरस्वती श्रीरमलापि गौरी ।।५।।

।। इति परमार्थकलनम् ।।

ङन्ताल्लट् । यस्य महेश्वरस्य विशिष्य प्रतिमानभूता प्रतिबिम्बभूता 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाये'त्यमरः । ब्रह्मादीनां ब्रह्मविष्णुरुद्राणां वृन्दारकः यूथपतिः, तस्य भावः । वृन्दं आच्छति इति वृन्दारः स एव वृन्दारकः । स्वार्थे कः । ब्रह्मविष्णुरुद्राणामप्यतिशयभूमित्वरूपा महेश्वरता अस्ति स 'अहम्' अहंप्रत्ययप्रत्ययी प्रत्येतव्यः । अतएव अजडप्रमातृसिद्धौ–

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।।' इति ।

तथा–'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'

इति चोपन्यस्तम् । इदमत्र तात्पर्यम्–'ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः' इति योगवार्तिकम् । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्–' इति श्वेताश्वतरश्रुतिश्च । महेश्वरो हि प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः । यदि निर्विमर्शः स्यादनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत । स एवात्मा स हि अहंप्रत्ययप्रत्ययी । अहंप्रत्ययश्च धूमेन धूमध्वज इव 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा–' (पा. सू. ५. २. ९३) इति पाणिनिसूत्रव्युत्पादितेन जडचेतनभेदनिबन्धनेनेन्द्रियेण इन्द्र आत्मा अनुमीयते । आत्मा हि इच्छाशक्तिसंश्लिष्टोऽन्तःकरणादिशाली यथावैभवं व्यवहारभूमिषु प्रवर्तते । अन्यत्रापि–

ॐ नमोऽहं पदार्थाय लोकानां सिद्धिहेतवे ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय परमात्मने ।।' इत्येवमादि पठ्यते ।

५ – **प्रथेति** । प्रथनं प्रथा ख्यातिः, सैव कथा तस्या आकारो रूपाधानं तस्य कलां विभूतिमुपेतः कथाशरीरात्मना प्रथित इत्याशयः । भगवतः पाराशर्यस्य कवित्वविभ्रमभूमिरियं कथा पुराणरूपतां दधती सुप्रसिद्धा तावत् । अयमत्र ब्रह्मादीनां सर्जनक्रमः–

ईश्वरो यदा स्वस्मात् पृथगिव भासमानं विश्वं स्वमाययैव प्रकृतिसंज्ञया रजोगुणमवलम्ब्य महदादिक्रमेण पृथगेव करोति तदा ब्रह्मा (स्रष्टा) इत्युच्यते । तत्रैवान्तर्यामित्वेन प्रकृतेः सत्त्वगुणमवलम्ब्य अनुप्रविश्य यदा नियमयति तदा

प्रथम-स्तवः ।

जय जगदम्ब ! कदम्बविहारिणि ! मङ्गलकारिणि ! कामकले !
जय तनुशोभाकम्पितशम्पे ! लसदनुकम्पे कान्तिनिधे ! ।
जय जितकामेऽपि जनितकामे ! धूर्जटिवामे ! वामगते !
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ॥१॥

विष्णुः । स एव प्रकृतेस्तमोगुणमवलम्ब्य यदा संहरति तदा रुद्रः । तदेवमसौ महतोऽस्य जगन्नाट्यसर्गस्य प्रवर्तयिता सूत्रधारः स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयन् नानाभूमिकां प्रतिपन्नोऽपि परमार्थत एकत्वमेवावगाहत इति चतुरस्रम् । यान् ब्रह्मादीन् समवायिनी इव समवायो नित्यसंबन्धः सोऽस्ति अस्याः । तादात्म्यभावमुपगताः शक्तिपदवाच्याः ब्राह्मी—वैष्णवी—रौद्रीपदाभिलप्याः आश्रयन्ते आश्रयीभूय प्रथन्ते । इहेदं रहस्यम्—एकः खलु परमेश्वर इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । यत्त्वस्य प्रादुर्भावावताराभ्यां अनेकत्ववर्णनं तत्सकलं सातिशयं प्रतिपत्तव्यम् । अस्यैव पुनर्ब्रह्म-विष्णु-रुद्रपदव्यपदेश्या जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहारकृतः प्रधानशक्तयः। कथामर्यादया तु ब्रह्मा-ब्रह्माणीत्येवमादि दाम्पत्यभावमधुराः प्रकाराः पुराणेतिहासेषु सुव्यक्ता एवेति शम् ।

इति परमार्थकलनम्[१] ।

प्रथम-स्तवः

१—जयेति यथायथं सर्वत्र योजनीयम् । जगदम्बेति संबोधनं स्वाभिमुखीकरणार्थम् । कदंबे कदंबकुसुमे विहरति तच्छीला कदम्बविहारिणी । भगवत्याः कदम्बप्रियत्वमागमेषु सुप्रसिद्धम् । 'कदम्बकुसुमप्रियेति ललितासहस्रनामस्तवे । मङ्गलं कल्याणं करोति इति तथाभूता । कामकले कामः यावन्मनोरथमात्रं तस्य कला प्रकाशभूमिका । अथवा कामः कलाशरीरघटको बिन्दुरग्नीषोमाख्यो रविः । तदुक्तं कामकलाविलासे—

'बिन्दुरहंकारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ॥'

आचार्यशङ्करभगवत्पादैरपि—

'मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो-
हरार्धं ध्यायेद् यो हरमहिषि ! ते मन्मथकलाम् ।'

१—चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थानुचिन्तनमिति यावत् ।

इत्यादिना सौन्दर्यलहर्यां कामकलास्वरूपं प्रतिपादितम् । यत्फलं च 'हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीमित्यादिना तत्रैव स्पष्टमभिहितम् । कमनीयत्वाद्वा कामः । तथा च कालिकापुराणे—

जगत्सु कामरूपत्वे त्वत्समो नैव विद्यते ।
अतस्त्वं कामनाम्नापि ख्यातो भव मनोभव ॥' इति ।

जगत्सिसृक्षावानीश्वरः कामपदवाच्यः । श्रूयते च बृहदारण्यकोपनिषदि—

'आत्मैवेदमग्र आसीत् एक एव सोऽकामयत...... इत्यादिना – एतावान्वै कामः' इत्यन्तम् । तदिदं कामकलास्वरूपं गुरुमुखैकवेद्यमिति इहैवोपरम्यते । तनोः शरीरस्य शोभा कान्तिः तया कम्पिता शम्पा विद्युदनयेति तत्संबोधनम् । लसन्ती अनुकम्पा दयार्द्रभावो यस्याः सा । कान्तीनां भासां निधिः, तत्संबुद्धिः । प्रकाशनिधानभूतामिति तात्पर्यम् । जितः स्वायत्तीकृतः कामः अनङ्गोऽनया । जनितः पुनरुज्जीवितः कामोऽनया । भण्डासुरहननोत्तरं ब्रह्मादिभिर्देवैः प्रार्थितया ललिताम्बया पुनर्मन्मथो जीवित इति ब्रह्माण्डपुराणोक्ता कथात्र गर्भीकृता द्रष्टव्या । धूर्जटेर्महेश्वरस्य वामे वामाङ्गविलसनशीले । वामगते वामं सुन्दरं गतं गमनं यस्याः सा तत्संबुद्धिः । जालन्धरपीठस्य ओड्याणादिप्रमुखशक्तिपीठचतुष्टये ललामभूतस्य विलासिनि अलंकृते ! । जालन्धरपीठं पीठान्तरेभ्योऽम्बायाः प्रियतरमिति भावः । 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी'इति ललितासहस्रनामस्तवः । किमियता–अस्या एव विवर्तभूतं परिणामभूतं वा सकलमिदं दृश्यजातमेव । तत्रानन्तवैचित्र्यचित्रितेन विशेषेण वर्तनमेव विवर्तो नतु कश्चित् पारिभाषिकः । मिथ्यात्वमात्रानुप्राणितव्यवहारेण आप्रलयं विश्ववैशिष्ट्यचमत्कारासंभवात् । परिणामो वा आस्ताम् । स च परा–पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरीलक्षणः शाब्दः । शिवादिधरण्यन्तः षट्त्रिंशत्तत्त्वरूप आर्थः । स एष वैशेषिकसप्तपदार्थ्या नैयायिकषोडशपदार्थीव सांख्यस्य योगस्य वा तत्त्वानामुपबृंहणभूतो वस्तुतस्तु सारभूत एव परीक्षणीयस्तैर्थिकैः । बिन्द्वादिभूपुरान्तस्तु चाक्रः । अयमेव यान्त्रः परिणाम इत्यपि व्यपदिश्यते । शारीरो याजमानस्त्वत्रैवान्तर्भवति । उक्तं च –

'तस्यां परिणतायां तु न किञ्चिदवशिष्यते ।' इति ।

इह – 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।' इत्यादयो गीताद्युक्तयोऽप्युपास्तिधिया संनिहिता एव परीक्षणीया इत्यलं पल्लवितेन । दुःखस्य सांसारिकस्य संतापस्य विनाशिनी उच्छेदकर्त्री । 'तदत्यन्तविमोकोऽपवर्ग' इति तत्रभवान्

नानालङ्कृतिझङ्कृतिशालिनि ! मौक्तिकमालिनि ! केलिपरे !
मुनिजनहृदयागारनिवासिनि ! विद्यास्वामिनि ! बोधघने ! ।
सान्द्रानन्दसुधारसभासिनि ! वीणावादिनि ! वेदनुते !
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ॥ २ ॥

गौतमः । 'दुःखेनात्यन्तविमुक्तश्चरति' इति श्रुतिश्च । भक्तिवशे भक्त्या भक्तेर्वा वशा इत्युभयथा व्याख्येयम् । भक्तिपराधीनेत्यर्थः । द्विविधा हि खलु भक्तिर्मुख्या गौणी च । तत्र ईश्वरविषयक अनुरागात्मकः चित्तवृत्तिविशेष एव प्रथमा भक्तिः । तथाचार्षं भक्तिसूत्रम् – 'सा परानुरक्तिरीश्वरे ।' इति, द्वितीया तु 'गौण्या समाधिसिद्धिः' इत्युक्तलक्षणा । सा च सेवनभजनादिनानास्वरूपसंकुला ततोऽवरकोटौ परिणमति । सांप्रतं तु जाग्रति कलिचाकचक्ये, उद्वेल्लति च भक्तिरससिन्धौ, कीर्तनगीतवाद्यतौर्यत्रिकादिनव्यभव्यभावपरिष्कृता मनसो मधुरतरैर्व्यापारैरुदश्रुत्कलेवरा भक्तितपस्विनी अनेकविधां भजन्ती परीक्ष्यत इति सर्वजनप्रत्यक्षमित्यास्तां भक्तिविवेकाख्यानेन ।

२ – नाना अनेकाः रत्नरौप्यसौवर्णादिघटिताः अलंकृतयः आभूषणानि तासां झंकृतिः झणत्कारशब्दः तया शालते । नानाविधरत्नाद्यलङ्कारप्रियेत्यर्थः । मौक्तिकमालिनि मुक्तैव मौक्तिकम् स्वार्थे ठक् । तस्य माला स्रक् सास्ति यस्याः, तत्संबुद्धिः । केलिः क्रीडा तत्परे तदासक्ते । मुनिजनाः मन्यत्रिप्रभृतयः तपोविभूतयः तेषां हृदयागारे दहरपुण्डरीके निवासः अस्ति अस्याः । मुनिश्च –

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥'

इति भगवद्वासुदेवाद्यनुशिष्टो नतु विचित्रवेषलिङ्गपरिग्रहो धर्मध्वजस्तदाभासो वा । विद्यानां अष्टादशप्रस्थानभिन्नानां स्वामिनी ईश्वरी । बोधघने बोधो ज्ञानं, बुधेर्भावे घञ् । तेन घना सान्द्रा, ज्ञानैकस्वरूपेत्यर्थः । सान्द्रा निविडा या आनन्दसुधा अमृतरसः स भासते अस्याम् । वीणां कच्छपीं वादयति- इति वीणावादिनी, तत्संबुद्धिः । वेदैः संहिताब्राह्मणोभयात्मकैः 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यापस्तम्बः । नुते स्तुते 'स्तवः स्तोत्रं नुतिः स्तुति' रित्यमरः । चरमं चरणद्वयं प्राग् व्याख्यातम् ।

आपत्तूलमहानलकीले ! पालनशीले ! भूतिखने !
द्युतिजितचम्पकदामकलापे ! मधुरालापे ! हंसगते ! ।
विभ्रमरञ्जितशङ्करहृदये ! कृतजगदुदये ! शैलसुते !
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ॥३॥
मूले दीपककलिकाकारे ! विद्यासारे ! भवसि परा
तस्मादपसृतिकलनावृद्धे ! मणिपुरमध्ये पश्यन्ती ।
स्वान्ते मध्यमभावाकूता, कण्ठे वितता वैखरिका
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ॥ ४ ॥

---

३ – संसारविषवृक्षोत्था आपद एव तूलाः कार्पासाः तदन्तर्ज्वलितो यो महानलः तीव्रतमो ज्वलनः तं कीलति अवष्टभ्नाति, तत्संबुद्धिः । पालनं योगक्षेमप्रदानरूपं शीलं यस्याः । भूतीनां अणिमाद्यानां खनिःआकरः 'खनिः स्त्रियामाकरःस्यात्' इत्यमरः । द्युतिजितचम्पकदामकलापे द्योतते इति द्युतिः कान्तिः, तया जितः न्यग्भावं नीतः, चम्पकदाम्नां स्वर्णसवर्णानां कलापः कदम्बकं अनया । मधुरः श्रवणप्रियः आलापः आभाषणं यस्याः । हंसगते हंसवाहने । विभ्रमेण विलासेन रञ्जितं प्रसादितं शंकरस्य हृदयमनया । कृतजगदुदये कृतः जगतां स्थावरजङ्गमात्मनां उदयः उद्गमोऽनया । शैलस्य हिमवतः सुता तनयात्वरूपेणावतीर्णा । अन्यत्पूर्ववत् ।

४ – मूले पराधाम्नि मूलाधारचक्रे, दीपकस्य पुष्पवर्त्तिकायाः कलिका इव कोरक इव आकारः स्वरूपं यस्याः । विद्यानां भुक्तिमुक्तिश्रियोपश्लिष्टानां सारे सारस्वरूपे त्वं परा भवसि परेति लोके गीयसे । तस्मात् परामण्डलात्, अपसृतिः अपसरणं, अग्रेगमनमिति यावत् । तस्याः कलना व्यापारः, तया वृद्धे वृद्धिमुपगते । मणिपुरमध्ये, मणिपुरं नाभिस्थितं दशदलं पद्मम्, तन्मध्ये तदन्तः । सामयिकपूजायां मणिभी रत्नैः पूर्यते देवी इति तच्चक्रं मणिपुरमित्युच्यते । अस्मिन् चक्रे विष्णोरवस्थानमित्यागमः । पश्यन्ती, पश्यन्तीति व्यवहारपदयोग्या संपद्यसे । स्वान्ते हृदयपरिसरे मध्यमभावः अनाहतनादात्मा आकूतं अभिप्रायो यस्याः । कण्ठे कण्ठकुहरे वितता व्याप्तिमागता वैखरिका वैखरीवाक्स्वरूपा । षट्चक्रादिनिरूपणे प्रसिद्धायाः–

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

पश्चादाविर्भवदनवद्ये ! श्रेयःपद्ये ! यत्तदिदम्
शब्दब्रह्मतया खलु गेयं, खमिवामेयं किमपि घनम् ।
पञ्चाशल्लिपिभेदविचित्रं वाङ्मयमात्रं त्वमसि परे !
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ॥ ५ ॥

इति पातञ्जल-महाभाष्य-पस्पशाह्निकोद्धृतया-ऋग्वेदश्रुत्या बोधितायाः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीलक्षणायाः शब्दब्रह्मविभूतेर्भूरिति पिण्डार्थः । अयमत्र परादीनां विभागक्रमः-शब्दब्रह्मरूपस्य बीजस्योच्छूनतावस्था परा । तदुक्तमागमे-

'येयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः ।
सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ॥
नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता ।
अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥'

एतल्लक्षणाक्रान्ता शब्दब्रह्मशक्तिरेव परेति व्यपदिश्यते । बहिरुन्मिषन्त्या अस्याः प्रथमो विवर्तः पश्यन्ती । पराया मध्यमायाश्चावस्थां तटस्था पश्यतीति-योगात् । तत एतदुदीरयामीत्यन्तःसंकल्पलक्षणा प्राणवृत्तिमतिक्रम्य श्रोत्रग्राह्यवर्णा-भिव्यक्तिरहिता क्रमरूपानुपातिनी मानसिकवर्णोच्चारप्रक्रियया द्वितीयो विवर्तो मध्यमा । पश्यन्तीवैखर्योर्मध्ये वर्तमानेति योगात् । ततश्च स्थान-करण-प्रयत्नक्रम-व्यज्यमानस्तृतीयो विवर्तो वैखरी । विशिष्टं खं आकाशं मुखरूपं राति गृह्णाति इति विखरः । प्राणवायुसंचारविशिष्टं वर्णोच्चारणं, तेनाभिव्यक्तेति योगात् । एतत्सारभूतैव-

'मूलाधारात्प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः ।
व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा-
बद्धस्तस्माद्भवति पवने प्रेरिता वर्णसंज्ञा ॥'

इत्याचार्याणामुक्तिः पप्रथे । अधिकं तु नित्यातन्त्राद्याकरग्रन्थेभ्योऽवसेयम् ।

५ - हे अनवद्ये ! नास्ति अवद्यं गर्ह्यं रूपमस्याः तत्संबुद्धिः अनघेत्यर्थः । हे श्रेयःपद्ये ! अतिशयेन प्रशस्यं श्रेयः । 'द्विवचन विभज्यो' (पा. सू. ५. ३. ५७) इति ईयसुन् । 'प्रशस्यस्य श्रः' (पा. सू. ५. ३. ६०) इति आदेशश्च । पादाय हिता पद्या, शरीरावयवत्वाद्यत्प्रत्ययः, पद्भावश्च । श्रेयसां कल्याणानां पद्या सरणिः तत्संबुद्धिः । भुक्ति-मुक्तिरूपाणां श्रेयोवर्त्मनामेकान्तवाहिनीत्याशयः ।

भवभवविभवपराभवहेतो ! गिरिकुलकेतो ! भक्तहिते ! ।
नानाविधवृजिनोत्करवारिणि ! करुणासारिणि ! शान्ततरे ! ।
सहसोत्सादितसाधकविघ्ने ! श्रद्धानिघ्ने ! सुखकलिके ! ।
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे ! ।। ६ ।।

पश्चात् वैखर्यात्मना परिणतायां भवति आविर्भवत् बहिरुल्लसत् यत् अकारादि-क्षकारान्तो वर्णराशिः तदिदं शब्दब्रह्मतया शब्दात्मकेन ब्रह्मस्वरूपेण खलु गेयं, गातुं योग्यम् । गेयमित्यत्र 'भव्यगेयप्रवचनीय–' (पा.सू. ३.४.६८) इति कर्तरि यत् । खम् आकाशः शून्यस्थानं, तद्वत् अमेयं, मातुं परिच्छेत्तुं योग्यं मेयं, तन्न भवति इत्यमेयं परिच्छेदानर्हम् । किमपि वाचातिक्रान्तम् । घनम् व्यापकम् । पञ्चाशल्लिपिरिति त्रिषष्टेरप्युपलक्षणम् । तथाच शारदातिलकस्थं पद्यम्–

'नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमात् ।' इति ।

तथा–'पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षस्थलम् ।'

'पञ्चाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोः पादयुक्कुक्षिवक्षः ।'

इत्येवमादयः कविकुलालापाश्चापि द्रष्टव्याः । पञ्चाशत् लिपिः लेखनं तस्य भेदैः प्रकारैः विचित्रं विविधवैचित्रीसमुद्भासितं, वाङ्मयमात्रम् हे परे ! त्वम् असि । पराया एव सर्वासां वाचामन्तःसाररूपत्वादिति तत्त्वम् । लघ्वाचार्या अपि–

'शब्दानां जननीत्वमत्र भुवने वाग्वादिनीत्युच्यसे
त्वत्तः केशववासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति ध्रुवम् ।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरमे ब्रह्मादयस्तेऽप्यमी
सा त्वं काचिदचिन्त्यरूपमहिमा शक्तिः परा गीयसे ।।'

६–भवः संसारः, तत्र भवः उत्पन्नो यो विभवः, ऐश्वर्यं पराभवः अनादरश्च तस्य हेतुः हेतुभूता, तत्संबुद्धिः । अनुकूलप्रतिकूलवेदनीययोः सुखदुःखयोस्त्वमेव केवलं बीजभूतेत्याशयः । गिरीणां कुलं वंशः तस्य केतुः, पताका । लोकोत्तरकार्य-संपादनप्रवृत्ततया वंशप्रतिष्ठाकारिणीत्यर्थः । भक्तहिता भक्तेभ्यः सपर्यापरायणेभ्यो हिता, पथ्यभूता । नानाविधं बहुप्रकृतिकं यत् वृजिनं अंहः, तस्य य उत्करः राशिः तस्य वारिणी, उत्सारिणी तत्संबुद्धिः । करुणायाः सारिणी प्रसारिणी तत्संबुद्धिः । 'सृ' धातोर्णिनिः । शान्ततरा अतिशयेन शान्ता । अतिशायने तरप् । सहसोत्सा-दितसाधकविघ्ने सहसा सद्य एव उत्सादितं प्रतिहतं साधकस्य साधनभाजो विघ्नम् चित्तविक्षेपरूपं वा अमङ्गलं अनया । श्रद्धया विश्वासातिशयेन निघ्ना अधीना

सिन्दूरद्रवचुम्बितभाले ! सेवितहाले ! प्रेमभरे !
मातश्चिन्तामणिभवनान्ते ! निर्भरकान्ते ! विततततम् ।
सोत्कं गायसि किन्नरदारैः, साकमुदारैः पतिचरितम्
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि ! भक्तिवशे !॥ ७॥
क्लेशं भञ्जय, रञ्जय चित्तं, वित्तं स्फारीकुरु वरदे !
शत्रुं मर्दय, वर्धय शक्तिं, भक्तिं सान्द्रीकुरु सरले !

'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः। सुखस्य ऐहिकस्य आमुष्मिकस्य च कलिका कुड्मलभूता। त्वत्त एव समस्तः सुखराशिराविर्भवतीत्यर्थः। शेषं सुगमम्।

७ – सिन्दूरस्य यो द्रवः रसः तेन चुम्बितम् आश्लिष्टं भालं ललाटं यस्याः सा,तत्संबुद्धिः। सेविता स्वात्मनि योजिता, हाला आसवद्रव्यमनया। प्रेम्णः अनुरागस्य भरः आधिक्यमस्ति अस्यामिति तत्संबुद्धिः। रागातिशयं बिभ्रती इति भावः। चिन्तामणिभवनं द्वादशारं कमलं तदन्ते तन्मध्ये। सर्वेषां चिन्तितार्थ-प्रदानां मन्त्राणां निर्माणमण्डपं चिन्तामणिगृहमाख्यायत इति गौडपादीये सूत्र-भाष्ये। तन्त्रान्तरेऽपि –

'तत्र चिन्तामणिमयं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपवर्हणे॥
अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भूतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः॥
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।' इति।

निर्भरः अतिमात्रमाश्रितः कान्तो अस्याम्। अथवा निःशेषेण भरः अतिशयः कान्ते यस्याः सेति। विततं विशेषेण व्याप्तं ततं वीणादिवाद्यं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथेति–गायनक्रियां विशिनष्टि। उदारैः दक्षिणैः, किन्नरदारैः किन्न-राणां देवयोनिविशेषाणां दाराः पत्न्यः, तैः साकं सह। सह उत्केन वर्तमानं सोत्कं सोत्कण्ठं। 'उत्क उन्मनाः' (पा० सू० ५।२।८०) इति उद्गतमनस्कवृत्ते-रुच्छब्दात् स्वार्थे कन्। उद्गतं मनः अस्येति उत्कः, तैदस्ति यस्मिन्निति वा। पत्युर्महेशानस्य चरितं चरित्रम्। अन्यत् स्पष्टम्।

८ – क्लेशं आधि-व्याध्युत्थं शारीरं मानसं च कष्टं, तत् भञ्जय भिन्धि। चित्तं मानसं रञ्जय रञ्जितं कुरु। वित्तं लोकोद्भवं वैभवं स्फारीकुरु। अस्फारः स्फारः

नास्ति कृपानिधिरम्ब ! त्वत्तो मत्तो मत्ततमो न शिवे !
जय जालन्धरपीठविलासिनि ! दुःखविनाशिनि भक्तिवशे !॥ ८ ॥
वज्रालङ्करणायाः वज्रातटिनीविहारशीलायाः ।
वज्रेश्याः स्तवमेतं पठतां सङ्गच्छतां श्रेयः ॥ ९ ॥
इति जगदम्बा–जयवादः ॥ १ ॥

संपद्यतां तं कुरुष्वेति विग्रहः । प्रार्थनायां लोट् । वृद्धिं प्रापयेत्यर्थः । शत्रुं प्रतिद्वन्द्विनं मर्दय, उपमर्दितं संपादय । शक्तिम् अन्तःस्फुरणात्मिकां वर्धय, बलोर्जितां विधेहि । सरले सरलस्वभावे, भक्तिं तव चरणयोरासक्तिं, सान्द्रीकुरु घनीभूतां संपादय । हे अम्ब ! त्वत्तः भवत्याः विशिष्टः कृपानिधिः करुणासमुद्रः नान्यः कश्चन अस्ति । हे शिवे ! कल्याणिनि ! शिवं करोति इति शिवशब्दात् 'तत्करोति-तदाचष्टे' इति एयन्तात् पचाद्यचि, टाप् । शेते अस्यां सर्वमिति अथवा शिवाः शोभनाः गुणाः अस्यां सन्तीति, अर्शआदित्वादच् । मत्तः मदपेक्षया, मत्ततमः अतिशयेन मत्तः, प्रमादयुक्तः नान्यः कोऽपि क्वचिदिति । शेषं सुगमम् ।

९–वज्रालङ्करणायाः वज्रं पविः अलङ्करणं विभूषणं यस्याः तस्याः । वज्रा-[1]तटिनी आगमप्रसिद्धा सरित् । तस्यां विहारशीलायाः स्वैरं विहरन्त्याः । वज्रस्य ईशी वज्रेशी, षष्ठीतिथिनित्या जालन्धरपीठाधिष्ठात्री तस्याः, इन्द्रवज्रप्राणप्रदायाः । अनयैव तपस्यत इन्द्राय वज्रोऽपि प्रसादीकृत इत्यादिकथा ब्रह्माण्ड-पुराणतो द्रष्टव्या । एतं मदुक्तं स्तवं स्तोत्रं पठतां अर्थानुसन्धानेन सह सश्रद्धं भावयतां जनानां श्रेयः मङ्गलं सङ्गच्छतां संघटताम् ।

इति जगदम्बा–जयवादः ।

१–श्रीपुरस्य द्वादशः प्राकारो वज्रमणिमयः, तत्र एकादशस्य मध्ये वज्राख्या-नदी, तत्स्वामिनी । तथा च तत्रभवतो दुर्वाससः ललितास्तवरत्ने–

'तत्र सदा प्रवहन्ती तटिनी वज्राभिधा चिरं जीयात् ।
चटुलोर्मि-झाटनृत्यत्कलहंसी-कुल-कलक्वणितपुष्टा ॥
रोधसि तस्या रुचिरे वज्रेशी जयति वज्रभूषाढ्या ।
वज्रप्रदानतोषितवज्रिमुखत्रिदशविनुतचारित्रा ॥'
झाटो निकुञ्जः कान्तारं वा । अन्यत्सुगमम् ।

द्वितीय-स्तवः ।

जालन्धरावनिवनीनवनीरदाभ-
प्रोत्तालशैलवलयाकलिताधिवासाम् ।
आशातिशायिफलकल्पनकल्पवल्लीं
ज्वालामुखीमभिमुखीभवनाय वन्दे ॥ १ ॥

ज्येष्ठा क्वचित्, क्वचिदुदारकला कनिष्ठा,
मध्या क्वचित्, क्वचिदनुद्भवभावभव्या ।
एकाप्यनेकविधया, परिभाव्यमाना
ज्वालामुखी सुमुखभावमुरीकरोतु ॥ २ ॥

द्वितीय-स्तवः ।

१–जालन्धरः त्रिगर्तदेश इति हेमचन्द्रः । अत्र भगवती विश्वमुखी भूत्वा विराजते । तथा च देवीभागवते–

'जालन्धरे विश्वमुखी तारा किष्किन्धपर्वते ।'

(दे० भा० ७.३.७६)

जालन्धरावनौ जालन्धरेति नामके शक्तिपीठे, या वनी अरण्यं, तत्र नवो नूतनः यो नीरदो जलधरः, तद्वत् आभा दीप्तिर्यस्य, एतादृशे नूतनमेघसन्निभे, प्रोत्ताले अत्युन्नते, शैलवलये पर्वतमण्डले, कलितः गृहीतः, अधिवासो निवासः, यया सा ताम् । आशातिशायिफलकल्पनकल्पवल्लीं, आशां मनोवाञ्छितमतिशेते इत्याशातिशायि तादृशं यत् फलकल्पनं भक्तजनेभ्यः समीहितप्रदानं तत्र कल्पवल्लीं कल्पलतेव विश्रुतगौरवाम् । ज्वालामुखीं ज्वालैव मुखं यस्याः सा, ताम् । अजस्रं प्रज्वलिताभि र्ज्वालाभिरेव पूजादिकं गृह्णाति देवीत्यतोऽस्यास्तथात्वम् । अभिमुखीभवनाय सांमुख्यसंपादनाय वन्दे प्रणतोऽस्मि ।

२– क्वचित् ज्येष्ठा वृद्धिंगतज्वालाकारा, क्वचित् उदारा सरला कला अर्चिः यस्या सा, कनिष्ठा लघुरूपा, मध्या अनुभयरूपा । नास्ति उद्भवो उत्पत्ति र्यस्य सः अनुद्भवः प्राकृतिकः, तादृशो यो भावः श्रद्धाभरः, तेन भव्या रमणीया । अनादिकालादसौ ज्वालात्मना परिस्फुरन्ती विराजत इत्यस्यां कश्चन भावोद्रेकः समुन्मिषति भक्तजनस्येत्यर्थः । एका केवला, अपि अनेका

अश्रान्तनिर्यदमलोज्ज्वलवारिधारा
सन्धाव्यमान-भवनान्तरजागरूका ।
मातर्ज्वलज्ज्वलनशान्त-शिखानुकारा,
रूपच्छटा जयति काचन तावकीना ॥३॥

मन्ये विहारकुतुकेषु शिवानुरूपं,
रूपं न्यरूपि खलु यत्सहसा भवत्या ।
तत्सूचनार्थमिह शैलवनान्तराले,
ज्वालामुखीत्यभिधया स्फुटमुच्यसेऽद्य ॥४॥

या विधा प्रकारः तया, नानाकारतयेत्यर्थः । परिभाव्यमाना समन्ततो विभाव्यमाना । सुमुखभावमिति क्रियाविशेषणम्, प्रसादोन्मुखत्वं उरीकरोतु अङ्गीकरोतु । 'कृभ्वस्तियोग'-(पा० सू० ५. ४. ५०) इत्यभूततद्भावे च्विः ।

३- अश्रान्तं निरर्गलं, निर्यत् निर्गच्छत्, अमलं पङ्कादिभिरनाविलं, अतएव उज्ज्वलं निर्मलं यत् वारि सलिलं, तस्य धाराभिः प्रवाहैः सन्धाव्यमानं प्रक्षाल्यमानम् । 'धावु गतिशुद्धयोः' इत्यतः कर्मणि शानच् । यद् भवनं मन्दिरं तदन्तरे तन्मध्ये जागरूका देदीप्यमाना । हे मातः जननि ! ज्वलंश्चासौ ज्वलनश्च ज्वलज्ज्वलनः प्रज्वलितोऽनलः, तस्य या शान्ता अनुत्कटा, शिखा अर्चिः, तां अनुकरोति अनुसरति इति तथाभूता । काचन अनिर्वचनीया तावकीना त्वदीया 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' (पा. सू. ४. ३. १.) इति खञ् । 'तवकममकावेकवचने (पा. सू. ४. ३. ३) इति युष्मदस्तवकादेशः । रूपच्छटा रूपसंपत् जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

४- विहरणं विहारः लीलाविलसितं, तदनुषङ्गिषु कुतुकेषु कौतुकेषु, भवत्या त्वया सहसा झटित्येव, शिवस्य पत्युः अनुरूपं योग्यमिति शिवानुरूपम् । अनुरूपमिति योग्यतार्थे ' अव्ययं विभक्ति' (पा. सू. २. १. ६.) इत्यादिना समासः । त्रिलोचनत्वरूपं रूपं न्यरूपि निरधारि । मन्ये शङ्के, तत्सूचनार्थं तस्य सर्वसमक्षं प्रकटीकरणाय, शैलं च वनंचइति शैलवने तयोरन्तरालं तस्मिन् । अद्रिकाननयोर्मध्ये ' ज्वालामुखी' इत्यभिधया अभिधानेन स्फुटं स्पष्टं यथास्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उच्यसे जनैरभिधीयसे । वचेः कर्मणि लट् ।

सत्या ज्वलत्तनुसमुद्गतपावकार्चि-

ज्वालामुखीत्यभिमृशन्ति पुराणमिश्राः।

आस्तां, वयं तु भजतां दुरितानि दग्धुं,

ज्वालात्मना परिणता भवतीति विद्मः ॥५॥

यावत् त्वदीयचरणाम्बुजयो र्न राग-

स्तावत् कुतः सुखकराणि हि दर्शनानि।

प्राक् पुण्यपाकबलतः प्रसृते तु तस्मिन्,

नास्त्येव वस्तु भुवने सुखकृन्न यत् स्यात् ॥६॥

आत्मस्वरूपमिह शर्मसरूपमेव,

वर्वर्ति किन्तु जगदम्ब! न यावदेतत्।

उद्घाटयते करुणया गुरुतां वहन्त्या,

तावत् सुखस्य कणिकापि न जायतेऽत्र ॥७॥

५– सत्या पार्वत्या 'सती सती योगविसृष्टदेहा' इति कालिदासः। ज्वलन्ती या तनुः शरीरं, तया समुद्गता बहिःप्रसृता, पावकार्चिः अग्निशिखा, 'ज्वालामुखी' इति पुराणमिश्राः, पौराणिकाः सूरयः प्रतिपद्यन्ते। मिश्रशब्दोऽयं गौरवातिशय-द्योतकः। 'आर्यमिश्राः' इतिवत्। अभिमृशन्ति परामृशन्ति। तदेतदास्तां तावत् प्राचां व्याहारः। वयं तु भजताम् आराधयताम्, चरणाहितचेतसामितिभावः। दुरितानि दुष्कृतानि, दग्धुं भस्मसात्कर्तुं, भवती अत्रभवती, ज्वालात्मना ज्वालाकारेण, परिणता परिणतिं गता, इति विद्मः जानीमः।

६– त्वदीयौ चरणावेव अम्बुजे पद्मे तयोः, यावत् रागः अनुरागः न वर्धते तावत् दर्शनानि तत्र प्रत्यक्षतो वीक्षणानि, कुतः सुखकराणि स्वान्तः सुखोत्पादकानि प्राक् पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतं यत् पुण्यं, तस्य यः पाकः परिणतिः, तस्य बलत अभिनिवेशतः, तस्मिन् सुकृतप्राग्भारे, प्रसृते व्याप्रियमाणे, तद् वस्तु पदार्थः भुवने संसारेऽस्मिन् नास्त्येव नैवास्ते यत् सुखकृत् सौख्याधायकं हर्षकरं व न स्यान्नानुभूयेत।

७– हे जगदम्ब! जगतां मातः! आत्मस्वरूपं, आत्मनः चैतन्यमहेश्वरस्य स्वरूपमेव शर्मणो निःश्रेयसस्य रूपं पन्थाः वर्वर्ति वरीवृतीति। 'वृतु वर्तने' इत्यते

आस्तां मति र्मम सदा तव पादमूले,
तां चालयेन्न चपलं मन एतदम्ब ! ।
याचे, पुनः पुनरिदं प्रणिपत्य मात-
र्ज्वालामुखि ! प्रणतवाञ्छितसिद्धिदे ! त्वाम् ॥८॥

इति ईहाष्टकम् ॥२॥

यङ्लुगन्ताल्लट् । 'यङो वा' इति ईडभावपक्षे 'रुग्रिकौ च लुकि' (पा.सू. ७.४.९१) इति रुगागमः । स्वात्मचिन्तनमेव सुखसंपदं उल्लासयतीति भावः । किंतु यावत् करुणया वात्सल्यरसपूरेण गुरुतां, गुरोर्भावो गुरुता तां गुरुस्वरूपताम् 'गुरूमूर्ति-र्गुणनिधिर्गोमाता गुहजन्मभूः' इति ललितासहस्रनामसु पठ्यते । वहन्त्या धारयन्त्या, भवत्या यावद् एतत् हृदयाम्बुजं हृत्कमलं न उद्भास्यते नोन्मील्यते तावत् सुखस्य कणिका लवः अपि न जायते नोत्पद्यते । करुणार्द्रहृदयया भवत्या गौरवं रूपमास्थाय यावत् आणवं-कार्म-मायीयं च मलमपनुद्य न प्रसाद्यते हृदयागारं तावत् कथमुन्मिषेयुर्भुक्तिमुक्तिश्रिय इति तत्त्वम् ।

८—हे अम्ब ! तव भवत्याः पादमूले चरणसरोरुहे, मम मति र्मनीषा सदा सर्वस्मिन् काले, सर्वासु चावस्थासु, आस्तां निश्चला रमताम् । तां भक्त्युपहितां शेमुषीं चपलं मनः, चञ्चलं चेतः न चालयेत्, नान्यथाभावम् नयेत् । हे मातः ! ज्वालामुखि ! प्रणतानां वाङ्मनःकायैः प्रह्वीभवतां, वाञ्छितस्य मनोभिलषितार्थस्य, सिद्धिं ददाति इति तत्संबुद्धिः । पुनः पुनः भूयोभूयः प्रणिपत्य नतमस्तको बद्धाञ्जलिश्च भवन् इदमेव याचे अभ्यर्थये । अतः परं मुक्तिपद-मभिलषतां किमन्यदभ्यर्थनीयं भवेदिति तात्पर्यम् ।

इति ईहाष्टकम् ॥ २ ॥

तृतीय-स्तवः ।

ते देवकालि ! कलिकर्म विनाशयन्ति,
वन्दारु-संहतिषु शर्म विकाशयन्ति ।
ज्ञानामृतानि हृदये परिवाहयन्ति,
ये तावकीन-पदपङ्कजमर्चयन्ति ॥१॥
ते देवकालि ! कुलकीर्तिमुदञ्चयन्ति,
दिक्षु प्रतापपटलीमवतंसयन्ति ।

तृतीय-स्तवः ।

१–'कालसंग्रसनात् काली' इत्यागमः । आगमान्तरे च–

'असितेयं समाख्याता चिदम्बरसती शिवा ।
भक्तानां कामनापूर्त्यै कालीरूपा बभूव ह ॥' इत्येवमाद्यनुश्रूयते ।

महामहिमशालिन्या अस्याः प्रतिमासन्निवेशः कोसलमण्डले अयोध्यातो नातिदूरे दक्षिणस्यां दिशि 'देवकाली' ति नाम्ना प्रसिद्धिमुपगतः । पुरः स्फुरद्वापीसनाथ मेतन्मन्दिरञ्चाद्यापि पुराभवमात्मनो गौरवमनुस्मारयन् पुण्यां साकेतभुवमलंकरोति ।

हे देवकालि ! ते जनाः, ये त्वयि भक्तिभाजः, यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् पूर्वेण परस्य आक्षेपः । कलिकर्म, कलेरेतन्नाम्नो युगस्य, स्वभावानुरूपं प्राणवियोगावधिकं तत्तद्व्यवसितम् । अथवा कलिर्नाम विवादो वाग्युद्धं वा । तथा च माघः–

' शठ ! कलिरेष महाँस्त्वयाद्य दत्तः ।' इति ।

तदुत्थं कर्म व्यापारजातं, विनाशयन्ति समूलमुन्मूलयन्ति । वन्दारुसंहतिषु वन्दारवो वन्दनशीलाः, 'वदिअभिवादनस्तुत्योः' इत्यतः 'शॄवन्द्योरारुः' (पा.सू.३. २. १७३) इति तच्छीलादिष्वारुप्रत्ययः । तेषां संहतिः समवायः, तासु । शर्म सुखं, विकाशयन्ति यथोत्तरं पल्लवयन्ति । हृदये अन्तःकरणे ज्ञानामृतानि, ज्ञानानि तवप्रसादलब्धाः बोधसुधामयूखा एव अमृतानि, पीयूषपूराणि, तानि परिवाहयन्ति जलोच्छ्वासवत् परितः समुच्छलयन्ति । ये तावकीनं त्वदीयं, पदपंकजं चरणसरोरुहं, अर्चयन्ति भक्त्या पूजयन्ति ।

२– ' देवकालि' इति संबोधनं यथायथं सर्वत्र संबध्यते । कुलकीर्तिं वंशगौ-

विद्या-परिष्कृतिचणानपि मूकयन्ति,
येऽन्तः सदैव भवतीमधिवासयन्ति ॥२॥
ते देवकालि ! भुवनानि वशं नयन्ति,
शिष्टिं, नृपेन्द्रमुकुटेषु निवेशयन्ति ।
दुःखान्धकारपटलानि विपाटयन्ति,
ये त्वामुदारकरुणामसृणां श्रयन्ति ॥३॥
ते देवकालि ! कवितामृतमूर्जयन्ति,
संसत्सु वादनिपुणानपि तर्जयन्ति ।
कामादिकर्कश-रिपुप्रकराञ्जयन्ति,
ये तावकस्मरणसौभगमर्जयन्ति ॥४॥

खं, उदञ्चयन्ति उन्नमयन्ति । वंशो द्विधा–विद्यया जन्मना च । तदुभयविधस्य यशोवैजयन्त्याः प्रसारणेन उन्नायिकामिति तात्पर्यम् । दिक्षु दिगन्तपरिसरेषु प्रतापस्य तेजोराशेः, पटलीम् प्रभावपरंपरां 'पटवेष्टने' कलच्, ततो गौरादिङीष् । अवतंसयन्ति भूषयन्ति । विद्या आन्वीक्षिक्यादयः प्राक्तन्यस्तथा भौतिकविज्ञान-वन्धुरा नवनवोन्मिषन्त्य आधुनिक्यश्च । तासां परिष्कृत्या परिष्करणसंभारेण चणाः वित्ताः । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (पा. सू. ५. २. २६) इति तृतीयान्तात् वित्त इत्यर्थे चणप् प्रत्ययः । मूकयन्ति वाग्मिनोऽपि मूकवन्मुग्धान् विदधते । मूकं कुर्वन्ति मूकयन्तीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् । अन्तः हृदयाकाशे, सदैव प्रमादमवहत्य, अधिवासयन्ति, अन्तरुल्लसितां कलयन्ति ।

३–भुवनानि लोकान् । वशं नयन्ति स्वानुकूलं संपादयन्ति । शिष्टिं आज्ञां, 'शास्' धातोर्भावे क्तिन् । नृपेन्द्रमुकुटेषु, नृपेन्द्राणां चक्रवर्तिनां, मुकुटानि शिरोभूषणानि, तेषु निवेशयन्ति विन्यसन्ति । दुःखान्धकारपटलानि दुःखमेव त्रासजनकत्वादन्धकारः तमः, तस्य पटलानि समूहानि विपाटयन्ति उच्चाटयन्ति । ये, त्वां भवतीं, उदारकरुणामसृणां उदारा सा चासौ करुणा च तया मसृणा स्निग्धा, ताम् । श्रयन्ति सेवन्ते ।

४–कवितामृतं कवितायाः गद्यपद्यमयस्य वाग्विलासस्य यत् अमृतं, पीयूषं तत् ऊर्जयन्ति बलातिशययुक्तं घटयन्ति । संसत्सु विद्वद्गोष्ठीषु, वादनिपुणान्

ते देवकालि ! कलिसम्पदमर्दयन्ति,
दुर्वासनान्धतमसानि विमर्दयन्ति ।
सौभाग्यसारिणि ! जगन्ति पवित्रयन्ति,
ये श्रीमतीं हृदयवेश्मनि चित्रयन्ति ॥५॥

ते देवकालि ! सुखसूक्तिमदभ्रयन्ति,
विद्याकलापकृषिमण्डलमभ्रयन्ति ।

पण्डितमानिनो वादशूरान् । अथवा वादो नाम तत्वनिर्णयार्थं प्रमाणतर्काभ्यां स्थाप्यमानः साधनाक्षेपसहिता वीतरागकथा । तथा च गौतमसूत्रम्—

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः' (गौ० सू० १.२.१) । तत्र निपुणान् निष्णातान् प्रगल्भानित्याशयः । तर्जयन्ति त्रासयन्ति । कामादिकर्कशरिपुप्रकरान् कामादयः कामक्रोध-लोभमोहमदमात्सर्यादयः षट्संख्याकाः, त एव कर्कशाः, क्रूरस्वभावाः रिपवः परिपन्थिनः, तेषां प्रकरः समूहः, तान् जयन्ति स्वाधीनान् कुर्वते । ये तावकं त्वदीयं यत् स्मरणं वाचिकम्, उपांशु, मानसं वा चिन्तनं, तस्य सौभगं सुभगस्य कर्म अण् प्रत्ययः, सौभाग्यं अर्जयन्ति प्राप्नुवन्ति ।

५—कलिसम्पदं कलेश्चतुर्थयुगस्य, 'कलिः स्त्री कलिकायां ना शूराजि कलहे युगे' इति मेदिनी । संपदं स्वभावोल्बणं माहात्म्यं अर्दयन्ति, अभिभवन्ति 'अर्द गतौ याचने च' । दुष्टाः परिणामतो दुःखपर्यवसायिन्यः, याः वासनाः मनोरथ-प्रताताः, तान्येव अन्धतमसानि निबिडान्धकाराः तानि । अन्धयति ताम्यति अनेनेत्यन्धं तादृशं च तत् तमश्चेति समासान्तोऽच् प्रत्ययः । विमर्दयन्ति चूर्णयन्ति । सौभाग्यसारिणि ! सौभाग्यं सुभगत्वं सरति तच्छीला, तत्संबुद्धिः । 'सृ' धातो-र्णिनिः, ङीप् च । भाग्योत्कर्षदायिनीत्यर्थः । ये श्रीमतीम् सुषमाशालिनीम् । हृदयवेश्मनि मानसाभोगे, चित्रयन्ति चित्रवदुट्टङ्कयन्ति । ते जगन्ति भूरादीन् त्रयो लोकान्, पवित्रयन्ति पावनं कुर्वन्ति ।

६—सुखसूक्तिं सुखोल्लासितां वाचम् । दभ्रं अल्पं, न दभ्रं अदभ्रं, तत्कुर्वन्ति अदभ्रयन्ति प्रचुरयन्तीत्यर्थः । तत्करोतीति णिच् । विद्यानाम् कलापः समूहः, स एव कृषिमण्डलं सस्यकदम्बकम्, तं अभ्रयन्ति मेघैर्मेदुरयन्ति । देशान्तरेषु स्वदेशाद् दूरतर-तमेष्वपि जनपदेषु, चरितानि लोकवृत्तानि कर्माणि, विशेषयन्ति

देशान्तरेषु चरितानि विशेषयन्ति,
ये शर्मधाम तव नाम निरूपयन्ति ॥६॥
ते देवकालि! कुकृतानि निकृन्तयन्ति,
संसार-दुःख-निगडानि विभञ्जयन्ति ।
शान्तिं परामधिमनः परिचारयन्ति,
ये त्वत्कथामृतरसान् सततं धयन्ति ॥७॥
ते नूत्नेन्दीवराभे! भवभयजलधिं शीघ्रमुल्लंघयन्ति,
प्रध्मातस्वर्णवर्णे! निखिलसुखकलोल्लासमासादयन्ति ।

वैशिष्ट्यमानयन्ति । शर्मणः मङ्गलस्य धाम, लोकातिशायिपदम् तव भवत्याः नाम निरूपयन्ति हृदयारूढं कुर्वन्ति । 'विभावयन्ति' इत्यपि पुस्तकान्तरे पाठः ।

७—कुकृतानि, निरयोपभोगफलानि कुत्सितानि कर्माणि, निकृन्तयन्ति कृत्स्नं छिन्दन्ति । संसारदुःखनिगडानि संसारोद्भवानि दुःखान्येव निगडानि, शृङ्खलारूपाणि बन्धनानि, तानि विभञ्जयन्ति त्रोटयन्ति । अधिमनः चित्ताभोगे, सामीप्यार्थेऽव्ययीभावः । परां शान्तिं एकान्तिकम् शमसंतोषसुखम्, परिशीलयन्ति, अनुभवन्ति । त्वत्कथा, भवत्याश्चरितोपवर्णनं एव अमृतरसः पीयूषद्रवः तान्, सततं अविश्रान्तं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, धयन्ति पिबन्ति । 'धेट् पाने' कर्तरि लट् ।

८—नूत्नेन्दीवराभे! नूत्नं नवीनं, यदिन्दीवरं नीलकमलं, तद्वदेव आभा दीप्तिर्यस्याः, तत् संबोधनम् । महाकालीस्वरूपेणानुग्राहिणी इत्यर्थः । भवः संसार एव त्रासजनकत्वात् दुस्तरत्वाच्च भयजलधिः, भीतीनां समुद्रः, तं शीघ्रं द्रागेव, उल्लङ्घयन्ति उत्प्लवन्ते । प्रध्मातस्वर्णवर्णे! प्रध्मातं उत्तप्तं यत् स्वर्णं हेम, तद्वत् वर्णः कान्तिर्यस्याः सा, तत्संबुद्धिः, उत्तप्तहेमरुचिरे इत्यर्थः । निखिलसुखकलोल्लासम्, निखिला उच्चावचाः याः सुखकलाः आनन्दोद्गमाः, तासां उल्लासः स्फारा समृद्धिः, तम् । आसादयन्ति, अनायासेन लभन्ते । महालक्ष्मीस्वरूपेण जगतामनुग्रहकर्त्री इत्याशयः । फुल्लन्मल्लीमतल्लीप्रतिभटसुषमे! फुल्लन्ती विकसन्ती, या मल्लीमतल्ली प्रशस्ता मल्ली, कुटजवृक्षोद्भवं श्वेतवर्णं मल्लिकापुष्पम्, तस्य प्रतिभटा प्रतिस्पर्द्धिनी सुषमा शोभा यस्याः सा, तत्संबुद्धिः । 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनी'त्यमरः । प्राशस्त्यवाचकरूढिशब्दत्वात् 'प्रशंसावचनैश्च'

फुल्लन्मल्लीमतल्लीप्रतिभटसुषमे ! हर्षमुत्कर्षयन्ति
श्रीमातः ! संततं ये तव भजनविधौ चित्तमायोजयन्ति ॥८॥

अयोध्याप्रान्तवासिन्याः सुदर्शनकृतस्थितेः[१]।
देवकाल्याः स्तोत्रमेतत् पठतां घटतां शिवम् ॥९॥

इति देवकाली-महिमा ॥३॥

(पा० सू० २. १.६६) इति समासः। मतल्लिकादयो नियतलिङ्गा अव्युत्पन्नाश्चेति प्राञ्चः। अर्वाञ्चस्त्वेषामपि व्युत्पत्तियोगं समर्थयन्ते। हर्षं नैसर्गिकं मनःप्रसादं उत्कर्षयन्ति उत्कर्षयुक्तं घटयन्ति। श्रीमातः ! सकलानामपि शक्तिविग्रहाणां समष्टिभूते ! श्रीविद्यारूपिणि ! ये तव भवत्याः, भजनविधौ सेवासरणिषु, चित्त मायोजयन्ति, तदेकरूपतां नयन्ति। आद्ये चरणत्रये महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वतीनामभिमुखीकरणम्। चरमे तु सर्वसमष्टिरूपाया राजराजेश्वर्याः इत्यवधेयम्।

९–अयोध्या-प्रान्तवासिन्याः, साकेतपरिसरे दक्षिणस्यां दिशि प्रतिमात्मना सुशोभितायाः, सुदर्शनेन इक्ष्वाकुवंशोद्भवेन भूभृता कृता विहिता स्थितिः प्रतिमा-प्रतिष्ठापनं यस्याः, तस्याः देवकाल्याः एतन्नाम्ना सुप्रथितायाः स्तोत्रं स्तवं, पठतां असकृदावर्तयतां, लोकानां शिवं श्रेयः, घटताम् सङ्गच्छताम्।

॥ इति देवकाली-महिमा ॥

---

[१]अयं अयोध्यानगरीनाथः सुदर्शनः, कस्मिन् समये प्रादुरभूत् इत्यैतिहासिकदृशा न किमपि वक्तुं पारयामः। विष्णुमहापुराणादुपलभ्यमानासु राज्ञां वंशपरम्परासु तत् कालकलनासु च नास्योल्लेखः क्वचन दृष्टिमुपगतः। तथाप्ययं इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नः, अतिचिरंतनश्चेति पौराणिकाः। यतो वाल्मीकिरामायणस्य बालकाण्डे रामविवाहावसरे पुरोधसा वसिष्ठेन गोत्र-शाखोच्चारप्रसङ्गे ये पूर्वपुरुषाः नामग्राहं निर्दिष्टाः, तेष्वयं एकोनत्रिंशत्तम इति भारतभ्रमणोपदर्शितात् वंशानुक्रमादवगम्यते।

चतुर्थ-स्तवः ।

विविक्ततरगोमतीजठरमध्यसिद्धाश्रमां
पुरोगतसरोवरस्फुरदगाधपाथश्छटाम् ।
विशालतलतुङ्गभूलुलितनिंबमूलालयां
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥१॥
न लच्यघटनाश्रयां न च विशेषवेश्मावहां,
घटानुकृतिगोमतीवहनभाव्यमानास्पदाम् ।

चतुर्थ-स्तवः ।

१–अतिशयेन विविक्तं विविक्ततरम् । एकान्ततो जनशून्यम् । अतिशायने तरप् । 'विविक्तं पूतविजने' इत्यमरः । गोमत्याः प्रसिद्धायाः स्रोतस्विन्या यत् जठरं कुक्षिः, तन्मध्ये सिद्धः आशुसिद्धिदः, आश्रमो वासस्थानं यस्याः सा, ताम् । 'सरिद्गर्भस्तडागः सिद्धिभूः' इत्यागमः । पुरोगते संमुखस्थिते सरोवरे स्फुरत् चकासत् यत् अगाधं अतिगभीरं पाथः जलं तैश्छटा दीप्तिर्यस्याः, ताम् । विशालं विस्तीर्णं, यत् तलं आधारभूमिः, तत्र या तुङ्गा उन्नता भूः, तत्र लुलिते लुटिते निम्बमूले आलयो वासस्थानम् यस्याः, ताम् । सपदि सद्यः, भयं भीतिं खण्डयति विदारयति इति भयखण्डिका, ताम् । चण्डिकां अम्बिकां, मातरम् भजामि सेवे ।

२-लच्यं ज्ञेयं घटनायाः प्रतिमायाः आश्रयः आधारो यस्याः सा, ताम् । निर्मूर्त्तिकेनापि चत्वरेण समूर्त्तिकेव भासमानामिति भावः । विशेषं वेश्म गृहं आवहति इति विशेषवेश्मावहा, ताम् । मन्दिरादिसन्निवेशशून्यामित्यर्थः । घटानुकृतिः, कुम्भाकारेण प्रवहन्ती या गोमती, तस्याः वहने तटोपकण्ठे वहित्ररूपे वा भाव्यमानं प्रतीयमानं आस्पदं स्थानं यस्याः, ताम् । उह्यते अनेन इति वहनं, करणे ल्युट् ।

'तरणी भेलको वारिरथो नौस्तरिकः प्लवः ।
द्रोडस्तरान्धुर्वहनं वहित्रं वार्व्वटः पुमान् ॥'

इति त्रिकाण्डशेषः । भाव्यमानमिति भवतेर्णिजन्तात् कर्मणि शानच् । नमतां भक्त्या प्रह्वीभवतां, जनानां लोकानां, ये मनोरथाः मनोऽभिलाषाः, तेषां आरचनं

नमज्जनमनोरथारचनचारुचिन्तामणिं,
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥२॥

निरन्तरसमुल्लसत्कमलकीर्णपाथोजिनी-
प्रतानघनसंपदा कमपि संमदं तन्वतीम् ।
त्रिकोणसरसीमयीं, परिणतिं पुरो बिभ्रतीं,
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥३॥

अनुग्रहरसच्छटामिव सरःश्रियं यान्तिके
विकासयति, पद्मिनीदलसहस्रसन्दानिताम् ।
प्रतिक्षणसमुन्मिषत्प्रमदमेदुरां तामहं,
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥४॥

सर्वतो घटनं, तत्र चारुः मनोज्ञः, चिन्तामणिरिव चिन्तामणिः, ताम् । चिन्तामात्रेण अभीष्टसंपादिकामित्यर्थः । चरमः पादः पूर्वं विवृतः, सर्वत्र योजनीयः ।

३-निरन्तरं अश्रान्तं समुल्लसन्ती शोभमाना, या कमलकीर्णा जलाच्छन्ना, पाथोजिनी पद्मिनी, तस्याः प्रतानेन विस्तारेण घना सान्द्रा संपत् संपत्तिः, तया । पाथसि जले जायते इति पाथोजम् । जनेर्डः, ततो इनिः । संपदिति क्विबन्तम् । कमपि लोकोत्तरं, संमदं प्रमोदं, तन्वतीं विस्तारयन्तीम् । त्रयः कोणाः यस्याः सा त्रिकोणा, त्रिकोणाकारेण परिणमन्ती या सरसी सरः, तन्मयीं तदाकाराम् । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । 'सरसीः परिशीलितुम्' इति नैषधीयचरिते । परिणतिं अवस्थानं पुरः स्वसंमुखे बिभ्रतीं धारयन्तीम् । अन्यत्पूर्ववत् ।

४-या अन्तिके समीपे, अनुग्रहः अभीष्टसंपादनेच्छारूपः प्रसादः, स एव आनन्दप्रदत्वात् रसः, तस्य च्छटामिव परम्परामिव । पद्मिन्याः नलिन्याः यत् दलसहस्रं सहस्रावधीनि पर्णानि, तेन सन्दानं दाम संजातमस्याः सा, ताम् । सरसः तडागस्य, श्रीः शोभा, ताम् । सरोविच्छित्तिमित्यर्थः । विकासयति उन्मीलयति । प्रतिक्षणं अनुवेलं, समुन्मिषत् उदयं गच्छत्, यः प्रमदो हर्षः, तेन मेदुरा अतिशयस्निग्धा, ताम् । 'मेघैर्मेदुरमम्बरमिति' जयदेवः ।

प्रचण्डयति विक्रमं, झटिति खण्डयत्यापदः,
सुमण्डयति वाक्कलां, सदसि दण्डयत्युद्धतान् ।
करण्डयति रोदसी, गुणसमृद्धिभिर्या हि तां
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥५॥

श्रुताऽभिलपिता, मता, सुकलिता, समभ्यर्चिता,
सुधापृषतवर्षिभिर्नवनवैर्वचोभिः स्तुता ।
जयाय खलु कल्पते बहुविधादृता, तामहं
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥६॥

५-विक्रमं पराक्रमं, प्रचण्डयति उल्बणस्वभावतां नयति। 'चडि कोपे'। आपदः त्रिविधदुःखोद्भवाः विपदः, झटिति सद्य एव खण्डयति, खण्डखण्डं विदधाति । वाक्कलां, वाचामैश्वर्यं सुमण्डयति, सम्यग् भूषयति । 'मण्ड भूषणे' चुरादिः। सदसि अधिसभम्, उद्धतान्, दुर्विनीतान् दण्डयति दण्डप्रयोगैरनुशास्ति। गुणानां रजोगुणभुवां शौर्यादीनां, समृद्धिः अतिशयिता वृद्धिः, ताभिः। रोदसी भुवमन्तरिक्षं च 'द्यावाभूमी तु रोदसी' इत्यमरः। करण्डयति करण्डमञ्जूषेव अनायासेन परिपूर्णं संपादयति। करण्डो नाम वंशादिभिर्निर्मित, ताम्बूलपूगादिफलानां निधानपात्रम्, यस्य प्रचुरः प्रचारो भारतभूमौ बहुधा दृष्टचरः । करङ्कोऽप्यत्र प्रयुज्यते। 'ताम्बूलकरङ्कवाहिनी' इत्येवमादिप्रयोगाश्च बाणभट्टोक्तिषु सुलभाः। तदित्थं जगदम्बाचरणचिन्तकस्य गुणसमृद्धिः स्फारीभवन्ती भूलोकादन्तरिक्षलोकान्तं यावत् व्याप्रियत इति भावः। अन्यत् पूर्ववत्।

६-श्रुता कर्णकुहरं प्रविष्टा, अभिलषिता सर्वात्मना अभीष्टा, मता हृदयान्तर्ध्याता, सुकलिता सम्यक् परिशीलिता, समभ्यर्चिता, गन्धादि-पञ्चोपचारैः सम्यगुपासिता। सुधायाः पृषताः बिन्दवः, तान् वर्षन्ति स्रावयन्ति इति सुधापृषतवर्षिणः, तैः। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः। नवनवैः नूतन-नूतनैः कल्पनाचमत्कृतिरमणीयैः, वचोभिः वाग्विलासैः स्तुता, सम्यङ् निर्ध्याता, बहुविधाभिः विविधाभिः सपर्याभङ्गिभिः, आदृता हृदयान्तःप्रवेशिता, खलु जयाय अभ्युदयाय, कल्पते प्रभवति। अन्यत् पूर्ववत्।

इतस्तत उदित्वरव्रततिनद्धवृक्षावली-
लुलद्विहगमण्डलीमधुररावसंसेविताम् ।
स्खलत्कुसुमसौरभप्रसरपूर्यमाणाश्रमां
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥७॥

द्विषत्कुलकृपाणिकां, कुटिलकालविध्वंसिकां,
विपद्वनकुठारिकां, त्रिविधदुःखनिर्वासिकाम् ।
कृपाकुसुमवाटिकां, प्रणतभारतीभासिकां,
भजामि भयखण्डिकां सपदि चण्डिकामम्बिकाम् ॥८॥

७—इतस्ततः, उदित्वराः उदयोन्मुख्यः, उत्पूर्वादिणः 'इण्नशिजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (पा० सू० ३.२. १६३) इति क्वरप्। याः व्रततयः लताप्रतानानि, तासु नद्धा उद्वृत्ता, णह बन्धने'क्तः । या वृक्षाणां आवली द्रुमपंक्तिः, तस्यां लुलन्ती इतः ततो वा विलुठन्ती, विहगानां पक्षिणां या मण्डली समूहः, तस्याः मधुर-रावैः सरसकूजितैः, संसेवितां संस्तुताम् । स्खलन्ति वृन्तश्लथानि पतयालूनि वा यानि कुसुमानि, तेषां सौरभं सुगन्धिः, तस्य प्रसरेण व्याप्त्या पूर्यमाणः सर्वतो व्याप्रियमाणः, आश्रमो यस्याः सा, ताम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

८—द्विषतां परिपन्थिनां कुलं द्विषत्कुलं, सपत्नजनानां वंशः । तस्य कृते कृपाणि-केव कृपाणिका छुरिका, ताम् । निशितकृपाणधारेव अनायासेन रिपुकुलं उत्सादयति इति भावः । कुटिलः वक्रस्वभावो यः कालः, कृतान्तः तस्य विध्वंसिका, विनाशकरी ताम् । स्वयं जगतामन्तकः कालोऽप्यस्याः अनुचर इव आज्ञावशंवद इत्याशयः । विपदः, संसारोत्था आपदः, ता एव दुःखबहुलत्वादिना दुर्गमत्वात् वनानि काननानि, तेषां कृते कुठारिका कुठारवदुच्छेदकर्त्री, ताम् । कुठारो-नाम 'कुल्हाडी'ति लोके प्रसिद्धं काष्ठच्छेदकमस्त्रम् । त्रिविधं आधिप्रभृतिभिरुद्भूतं यद् दुःखं, संतापः तस्य निर्वासिका निर्वासनचतुरा, ताम् । कृपाः अनुकम्पा एव कुसुमानि प्रसूनानि, तेषां वाटिका पुष्पोद्यानमित्यर्थः । प्रणतेषु पादवन्दनपरेषु भारत्याः वाग्देव्याः भासिका स्फूर्तिप्रदा ताम् । विद्यार्थिभिराराध्यमाना यथाभि-लषितां वैदुष्यसम्पदं प्रसादीकरोति इत्याशयः ।

ब्रह्माण्डाधिकदेहापि गोमतीतीरचङ्क्रमा[1] ।
जयाय भजतां भूयाच्चण्डिका चण्डविक्रमा ॥६॥

इति चण्डिका–स्तुतिः ॥४॥

६–ब्रह्माण्डाधिकः देहो यस्याः इति ब्रह्माण्डाधिकदेहा । ब्रह्माण्डभाण्डतोऽपि विपुलशरीराभोगा सती, गोमत्याः सुप्रसिद्धायाः सरितः, तीरे तटप्रदेशे चङ्क्रमः भूयिष्ठं भ्रमणं, यस्याः सा । या हि विश्वशरीरा न सा तटभ्रमणपरायणा भवितुमर्हति इति विरोधाभासो नामात्र अलंकारः । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' इति लक्षणात् । तत्परिहारस्तु–अधिकदा वाञ्छितादप्यधिकं दातुं ईहा इच्छा यस्याः सेति तथाभूता । तत एव च ललितासहस्रनामादिषु–

'सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी' इत्यादि पठ्यमानं संगच्छते । लीलाकैवल्यमिति वा मन्तव्यम् । पर्यन्ते तु 'विश्ववपुश्चिदात्मा' इत्येव पर्यवस्यति । चण्डः अत्युग्रः, विक्रमः पराक्रमो यस्याः तथाभूता, चण्डिका स्वनामधन्या भजतां जयाय भूयादिति शम् ।

॥ इति चण्डिका-स्तुतिः ॥

---

१ चण्डी–(चांदन-कूडा) इत्याख्यया व्यपदिश्यमानं तदिदं प्राचीनतमं चण्डिकायतनं सांप्रतिक–उत्तरप्रदेशगौरवभूतात् लखनऊनगरात् पश्चिमस्यां दिशि उपगोमतीतीरं अष्टक्रोशान्तरे विजनप्रायं प्रदेशमध्यास्ते । विद्यानाथनामा कश्चन सिद्धपुरुषः पुरा इह तपश्चरितवानिति तत्रत्येभ्यो ब्राह्मणवृद्धेभ्यः संशृणुमः । एतत्कुटीरस्य भग्नावशेषश्चाद्याप्यस्मान् स्मारयति तपोभूमेरस्याः महत्त्वम् ।

एतदुत्तरं सुगृहीतनामधेयः सरस्वत्यानन्दनाथो महात्मा चिरायात्र तपस्यन् प्राङ्निमूर्तिकमपि चण्डिकाचत्वरं महिषमर्दिनीस्थापनेन समूर्तिकं संपादितवान् । यद्दर्शनार्थमधुना परःसहस्रा जनता प्रत्यमावास्यं एकत्रिता भवति ।

पञ्चम-स्तवः ।

इच्छामात्रसुपर्वविनिःसृत–
तेजःपुञ्जरचितललिताङ्गि ! ।
निर्गुणतो गुणभावमुपेयुषि !
जय जय, विकसद्दीर्घापाङ्गि ! ॥१॥

पञ्चम-स्तवः ।

१–इच्छामात्रं 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्याद्याम्नायप्रसिद्धो बहिरुन्मुखीभावः, तदेव सुपर्व शोभनो वंशः, तस्मात् विनिःसृतः बहिरुल्लसितः, यः तेजःपुञ्जो भासां चयः, तेन रचितं ललितं सुन्दरं अङ्गं देहो यस्याः तत्संबुद्धिः । 'सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी' इत्यादिना प्रतिपादितस्वरूपा । शिव एव यदा स्वहृदयवर्तिनमर्थतत्त्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति, तदा शक्तिरिति प्रथामाधत्ते । तथा च परासूक्ते–

'कृत्येषु देवि ! तव सृष्टिमुखेषु नित्यं
स्वाभाविकेषु विसरत्सु यदुन्मुखत्वम् ।
इच्छेति तत् किल निरूपितमागमज्ञै-
र्जानासि येन विदधासि च तं तमर्थम् ॥'

वासिष्ठरामायणे च–

'शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ।
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेयं दृश्याभासं तनोति सा ॥' इति ।

अयमेवार्थः सारभूतो मालिनीविजये वितत्य प्रतिपाद्यते–

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥
एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
ज्ञात्वा तदैव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते ॥
एवमेषा त्रिरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥' इति ।

अष्टादश-भुजवल्लिसमर्पित-
शस्त्रक्षपितमहासुरपालि ! ।
महिषासुरवधरक्षितलोके !
जय-जय, जननि ! जयाम्बुजनालि ! ॥२॥
एकाप्यङ्गकलाभिरनेका-
वृतिवरिवस्यासुषमामेषि ।

निर्गुणतः गुणशून्यत्वरूपायाः 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेः। गुणास्तावत् केवलं शरीरधर्माण एव इति न ते चिद्धर्मवत्वमाश्रयन्त इति भावः। एतदुद्दिश्य मात्स्ये हिमवन्तं प्रति नारदः-

'लक्षणं दैवकोट्यङ्कः शरीरैकाश्रयो गुणाः ।
इयं तु निर्गुणा देवी नैव लक्षयितुं क्षमा ॥'

गुणभावं सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयरूपं विग्रहं उपेयुषी उपादधाना तत्संबुद्धिः। विकसन्तौ दीर्घौ आयते अपाङ्गौ नेत्रप्रान्ते यस्याः । 'जय जये'ति महालक्ष्मीं लक्ष्यीकृत्य वीप्सा ।

२-अष्टादशभुजाः एव वल्लयः व्रतत्यः, तासु समर्पितैः सम्यगाहितैः, शस्त्रैः आयुधैः, क्षपिताः निःशेषीकृता महासुराणां उद्दामरक्षसां पाली पंङ्क्तिरनया। महिषासुरस्य सुप्रसिद्धस्य दुर्दान्तस्य वधात् रक्षितः लोकः संसारोऽनया । अम्बुजस्य षट्चक्ररूपस्य देहस्य नाली नालदण्डं तत्संबुद्धिः । मय्या-बीज-स्वरूपिणी इति परमार्थः । तत एव पराप्रावेशिकादौ भङ्ग्यन्तरेण-

'यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥'

इत्येवंरूपो राजानक-क्षेमराजाचार्यप्रभृतीनां त्रिकदर्शनविदामुद्घोषः। प्रकृतिमयपत्र-विकारमय-केसर-संविन्नालादिविशेषार्थयोजनमपि आगमोक्तदिशा यथायथमवधेयम् । आधारपद्मस्य कामगिरिपीठत्वं कामेश्वरीस्थानत्वञ्चापि आगमेष्वाम्नायत इति संक्षेपः। अधिकं तु वरिवस्यारहस्याद्यागमसन्दर्भेभ्य आकलनीयम् ।

३-एका अपि अङ्गकलाभिः अणिमाद्याभिः, अनेका नानाविधशक्तिव्रातरूपेण स्फुरन्ती अनेकतामुपयाता, आवृतिः आवरणं, तत्सहिता या वरिवस्या

ब्रह्म-विष्णु-शिव-सृष्टिविधायिनि !

जय-जय लोकालोकमहेशि ! ॥३॥

भक्तशोकशङ्कूद्धृतिनिपुणे !

शरणागत-सौहित्य-विधात्रि ! ।

नैसर्गिककरुणारससूते !

जय-जय, भूषणभूषितगात्रि ! ॥४॥

सपर्या, तस्याः सुषमां श्रियं, एषि प्रपद्यसे। ब्रह्म-विष्णु-शिवानां सृष्टिः सर्जनं विदधाति इति तत्संबुद्धिः। अतएव लघुस्तवे- 'त्वत्तः केशववासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति ध्रुवम्' इत्याद्युपश्लोक्यते। तत एव च शिवसूत्रेषु 'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः। सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। तन्नानाऽनुरूप ग्राह्यग्राहकभेदात्' इत्यादिना प्रोन्मीलितः स्वातन्त्र्यवादो महान्तं हृदयसंवादमावहति। अस्य च स्फीततरमुपबृंहणमपि आगमानुभवयुक्तिवादपुरस्सरं प्रत्यभिज्ञादर्शने महामाहेश्वरैराचार्याभिनवगुप्तपादैः क्रियमाणं हृदयावर्जकमिति विभावनीयम्। 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' इति चण्डीपाठः। पञ्चस्तव्यामपि–

'विरिञ्च्याख्या मातः! सृजसि हरिसंज्ञा त्वमवसि
त्रिलोकीं रुद्राख्या हरसि विदधासीश्वरदशाम्।
भवन्ती सादाख्या शिवयसि च पाशौघदलनैः
त्वमेवैकानेका भवसि कृतिभेदैर्गिरिसुते ॥' इति।

लोको नाम मुख्यया वृत्त्या प्रकाशस्वभावत्वात् प्रमाता, अलोकश्च तदधीनप्रकाशत्वात् प्रमेयम्। तथा च ग्राह्यग्राहक-उभयकोट्युपश्लेषरूपो लोकालोकः, तस्य महेशी महती स्वामिनी। अथवा लोकालोको नाम अरुणोदयशैलः, तस्य महेशी। राजराजेश्वर्याः सूर्यमण्डलान्तरवर्तिनीत्वमागमग्रंथेषु सुप्रसिद्धम्।

४–भक्तानां शोकः मन्युः स एव पीडाकरत्वात् शंकुः सूच्यग्रः कीलकः, तस्य या उद्धृतिः उद्धारः बहिरुत्क्षेपो वा तत्र निपुणे विदग्धे !। शरणं आगतस्य चरणशरणमापन्नस्य दुःखसंतप्तस्य यत् सौहित्यं सुहितस्य तृप्तस्य भावः ष्यञ्, तर्पणम्, तस्य विधात्री संघटयित्री, तत्संबुद्धिः। नैसर्गिकः स्वाभाविको यः करुणारसः वात्सल्यरसपूरः सः सूतः यस्याः सा। करुणारसस्य प्रसवभूरित्यर्थः। भूषणेन स्वर्णरत्नाद्यलंकारेण भूषितं अलंकृतं गात्रमस्याः तत्संबोधनम्।

सृष्ट्यादौ साचिव्यमुपेतम्,
यत्तस्यापि च सारमुदेति ।
मातस्तत् तव विग्रहघटकं
जय-जय दुर्मतिशातनहेति ! ॥५॥
तत्राद्यत्रिकमैन्दवमारुण-
मानलमञ्चति, मञ्जुलधाम ।

५—सृष्ट्यादौ सृष्टि–स्थिति–संहाररूपे त्रिगुणकर्मणि, यत् साचिव्यं सचिवस्य कर्म साहाय्यमित्यर्थः, उपेतं संप्राप्तं, तस्यापि यत् सारं वाग्भवमायाकामानां समष्टिः, उदेति उदयं याति, हे मातः ! तत् मूर्धाभिषिक्तं बीजकदम्बकं, तव विग्रहस्य मंत्ररूपशरीरस्य, घटकं योजकम् । दुष्टा विवेकशून्या, या मतिः तस्याः शातनं विनाशनम् 'जायते पत्रशातनम्' इति मीमांसा, तत्र हेतिः शस्त्रभूता । मन्त्रवर्णा हि ध्याननिरूपितस्य ध्येयस्य विग्रहघटका इति परमार्थः । तदित्थं प्रकृते वक्ष्यमाणमाद्यत्रिकम्—

'वाग्बीजमादीन्दुसमानदीप्तं,
ह्रीमर्कतेजोद्युतिमद् द्वितीयम् ।
कामं च वैश्वानरतुल्यरूपं,
तृतीयमानन्त्यसुखाय चिन्त्यम् ॥'

इत्यादिकमस्मत्परमगुरोः सप्तशतीसर्वस्वतोऽनुसन्धेयम् । तत्र सप्तशतीति तालव्यादिः पाठो मन्त्रगणनाभिप्रायेण, दन्त्यादिस्तु नन्दादिसप्तशक्तीनां चिख्यापयिषयेति तत एवावधार्यम् ।

६—तत्र नवार्णमंत्रविग्रहे, अयं चण्डिकाम्बायाः नवार्णो मन्त्रराजः कलिविसंस्थुलेऽपि समये आस्तिकसत्तमानां आर्त्तानां कल्पद्रुमायमाणः सकलेऽपि भारतमण्डले श्रद्धास्पदीभवन् परीक्ष्यते । आद्यं आदौ भवं, त्रिकं त्रयाणां सङ्घः, कन् । ऐन्दवं वाग्भवबीजं, आरुणं मायाबीजं, आनलं कामबीजमित्येतत्-त्रितयसमष्टेः, मञ्जुलं मनोहरं च तद्धाम पदञ्चेति कर्मधारयः । यतो भवती एव समस्तमपि प्रपञ्चसारभूतं अञ्चति क्रोडीकरोति । अतएव यथाक्रमं तत्तद्-बीजस्वरूपमास्थाय वाणी-वाक्, माया-श्रीः, कामः-इच्छाविशेषः एतेषां समष्टे-

वाणी-माया-कामत्रिकाशिनि !

जय-जय सिद्धि-विधानललाम ! ॥६॥

मध्यं जाम्बूनदबन्धूक–

स्फुटितेन्दीवर-भान्यक्कारि ! ।

उग्रार्तिच्छिदुरे ! दयमाने !

जय-जय जङ्गलमङ्गलकारि ! ॥७॥

अन्तिममञ्जन-पाण्डुर-धूम्र–

द्युतिसंकाशमहितकुलहन्त्रि ! ।

व्यष्टेश्च विकाशिनी स्फारोल्लासिनी, तत्संबोधनम् । सिद्धीनां अष्टविधानां यद् विधानं सफलीकरणं तत्र ललाम प्रधानभूते इत्यर्थः ।

७–मध्यं नवार्णमन्त्रस्य मध्यो भागः । जम्बूनदे भवं जाम्बूनदं सुवर्णम् । तथा च पठ्यते–

'तीरमृत् तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता ।
जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् ।।'

बन्धूकं जपारुणं पुष्पविशेषः । स्फुटितं विकसितं यत् इन्दीवरं नीलकमलं तस्य भां द्युतिं न्यक्करोति तिरस्करोति इति तत्संबुद्धिः । उग्रा उत्कटा सा चासौ आर्त्तिः पीडा च तस्याः छिदुरा छेदनकारिणी इत्यर्थः तत्संबोधनम् । 'आपआर्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्' इति कालिदासः । दयते इति दयमाना कर्तरि शानच् । जंगले वनप्रदेशे मंगलं शुभोदर्कं करोति इति तत्संबुद्धिः ।

८–हे अहितकुलहन्त्रि ! न हिताः अहिताः शत्रवः नञ् तत्पुरुषः । तेषां यत्कुलं वंशः तस्य हन्त्री विनाशकर्त्री । अन्तिमं चरमो नवार्णमन्त्रभागः । अञ्जनं कृष्णवर्णं, पाण्डुरं श्वेतवर्णं, धूम्रं कृष्णलोहितं, तेषां समुदिता या द्युतिः दीप्तिः तत्संकाशं तत्समानम् । केनाप्यनिर्वचनीयेन तेजःपुञ्जेन भासमानामित्यर्थः । सकलानि समस्तानि, यानि समीहितानि मनोरथाः, तेषां साधने संपादने, चुञ्चुः प्रवणा, 'तेन वित्त' इति चुञ्चुप् प्रत्ययः । जगद्रूपेण

सकलसमीहितसाधनचुञ्चो !

जय-जय-जय, जगदङ्कुरकर्त्रि ! ॥८॥

अयोध्या पश्चिमप्रान्त-कल्पितप्रतियातना ।

यातनाक्षतये भूयादेषा महिषमर्दिनी ॥९॥

इति महिषमर्दिनी-गीतिः ॥५॥

भासमानं यदङ्कुरं, बीजस्य प्रथमः परिणामः, तस्य कर्त्री विधात्री । भवत्या एव सकलः सृष्टिप्रपञ्चः प्रवर्त्यत इति भावः ।

९-अयोध्यायाः पश्चिमप्रान्ते, सरयू-तमसयोरन्तरालवर्त्तिन्यां पण्डितपुर्यां, 'शिवदुर्गापीठ' इत्यपराभिधानायां, कल्पिता प्रतिष्ठापिता, प्रतियातना प्रतिमा यस्याः सा । एषा समनन्तरं स्तुता, महिषमर्दिनी महिषं महिषासुराख्यमसुरं मृद्नाति इति महिष-मर्दिनी, कौशिकी स्वरूपमापन्ना चतुर्भुजा महालक्ष्मीः । महिषासुरस्य वधकथा चण्डीपाठादौ सुप्रसिद्धा । यातनाः संसारोद्भवाः तीव्रवेदनाः तासां क्षतये विनाशाय भूयात् ।

॥ इति महिषमर्दिनी-गीतिः ॥

१-अस्याः संनिवेशप्रमाणं तु भगवता वल्मीकजन्मना इत्थं निर्दिष्टम्-

'मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ॥

श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥' इति ।

(वाल्मीकिरामा० बालका० ५ सर्ग)

२-सांप्रतिक-अयोध्यापुरीसंनिवेशात् पश्चिमायां दिशि अष्टक्रोशान्तरे 'पण्डितपुरी' इत्याख्यया सुप्रसिद्धं तदिदमाश्रमपदम् । इह कूपारामसंनिकर्षे जगज्जननीपीठसंभूतैः विन्ध्यपाषाणैः निर्मितमेकं मनोहरं लघु शिवमन्दिरं विद्योतते । यत्र जगतां मातापितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ विराजतः । अत्र चैकः शिल्पकलाकमनीयः पाषाणोत्कीर्णः शिलालेखोऽपि निर्मातुः परिचयमावहन्नेतेन सह संश्लेषित आस्ते । इत उत्तराशामुखे क्रोशैकमितान्तरिते भुवः प्रदेशे घर्घरेण संश्लिष्टा वासिष्ठी भगवती सरयूः प्रवहति ।

षष्ठ-स्तवः ।

जननमरणजन्मत्रासघोरान्धकार-
प्रशमनकरणायाह्नाय काचित्प्रदीप्तिः ।
तरुणतरणिरागं, म्लानिमानं नयन्ती,
विहरतु मम चित्ते चन्द्रखण्डावतंसा ॥१॥
न भवति खलु यावत्कायवैक्लव्यभावो,
न च पतति, कृतान्तक्रूरदृष्टि-प्रपातः ।
ननु हृदय ! समुद्यद्दीनदैन्यावसाद-
प्रणयनरसिकां, तां तावदासादयाशु ॥२॥
सरससरसिजातस्फारसौन्दर्यसार-
स्फुरदवयवकाण्डोद्दामलावण्यवापी ।

षष्ठ-स्तवः ।

१–जननं देहोत्पत्तिः, मरणं पञ्चभूतेषु लयः, ताभ्यां जन्म प्रसवो यस्य एवं-भूतो यः त्रासः भयं तदेव घोरं दारुणं, अन्धकारः तमिस्रं, तस्य प्रशमनकरणाय दूरोत्सारणाय, अन्हाय वासराय, काचित् अतिशयोर्जिता, प्रदीप्तिः प्रकृष्टा द्युतिः,। तरुणः नवोदितः स चासौ तरणिः सूर्यः, तस्य रागं लोहितवर्णत्वं म्लानिमानं मलिनत्वं म्लानादिमनिच् । नयन्ती प्रापयन्ती। चन्द्रस्य खण्डः शकलं स अवतंसो भूषणं यस्याः सा, चन्द्रखण्डावतंसा, मम चित्ते मनोमन्दिरे, विहरतु विहरताम् । प्रार्थनायां लोट् ।

२–कायस्य शरीरस्य, वैक्लव्यभावः वार्धक्यप्रयुक्तः शक्तिक्षयरूपो व्याकुलीभावः । यावत् न खलु भवति, नोत्पद्यते ; कृतान्तस्य यमस्य क्रूरा कठोरा सा चासौ दृष्टिश्च तस्याः प्रपातः परिपतनम् न च भवति । नन्विति आमन्त्रणे अव्ययम् । हृदय ! मानस ! समुद्यत् समुद्गच्छत् यत् दीनस्य दुर्गतस्य दैन्यं दारिद्र्यं तस्य यो अवसादः विरामः, तत्प्रणयने तत्संपादने, रसिकां रसज्ञां, ताम् जगदम्बाम्, तावत् तदवधि, आशु यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम्। आसादय भजस्व ।

३–रसेन सहितं सरसं, तादृशं यत् सरसिजातं कमलं, तस्य स्फारेण विपुलेन, सौन्दर्यसारेण चारुत्वोत्कर्षेण स्फुरन्तः स्फूर्तिं वहन्तः, ये अवयवाः

अनुसरदनुकम्पापूरपूर्णातिमात्रं

शमयतु, मम तापं सा शशाङ्कार्धचूडा ॥३॥

जननि ! नतनिलिम्पीमौलिमन्दारमाला-

श्लथकुसुममरन्दम्लानपादारविन्दे ! ।

भवपरिभवविद्धे वासनाजालरुद्धे,

मसृणनयनपातं पातयास्मिन् वराके ॥४॥

सकलभुवनभारं पंचकृत्यावसानं,

नतिसुकृतिषु देवेषूच्चकैरर्पयित्वा ।

अंगानि, तेषां ये काण्डाः स्कन्धाः, तेषु यद् उद्दाम अत्युल्बणं, लावण्यं देह-सौन्दर्यं, तस्य वापी दीर्घिका । लावण्यपदार्थश्च–

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥'

इत्येवंरूपो द्रष्टव्यः । अनुसरत्सु अनुगमनं कुर्वत्सु विषये, या अनुकम्पा कृपारसः, तस्याः यः पूरः प्रवाहरूपः, तेन पूर्णा भरिता । सा शशाङ्कार्धचूडा, शशाङ्कः पीयूषकिरणः तस्य अर्धं खण्डः, चूडायां जूटिकायां अस्याः सा । अति-मात्रं एकान्ततः, मम भक्तहृदयस्य तापं व्यथारूपं संतापं, शमयतु दूरीकरोतु ।

४-हे जननि ! मातः ! नताः प्रणताः, याः निलिम्प्यः देवांगनाः, तासां मौलिषु केशपाशेषु, याः मन्दारमालाः पारिजातस्रजः, ताभ्यः श्लथानि च्युतानि यानि कुसुमानि, तेषां यो मरन्दः रजःकणरूपः, तेन म्लानं विच्छायं पादा-रविन्दं चरणसरोरुहं यस्याः सा, तत्संबुद्धिः । भवात् संसारात्, यः परिभवः तिरस्कारः, तेन विद्धे शरव्यभूते छिद्रिते वा । वासनानां अन्तरङ्कुरि-तानां चिरन्तनीनां, जालैः समूहैः, रुद्धे सर्वात्मना बद्धे, अस्मिन् वराके, शोच-नीये मयि, मसृणं स्निग्धं प्रेम्णा परीतं च, यन्नयनपातं दृष्टिनिक्षेपः, तं पातय प्रसारय ।

५–सकलस्य समस्तस्य, भुवनस्य जगतः, यो भारः संभाररूपः सृष्टिप्रपञ्चः, तम् । पञ्चकृत्यानि उत्पत्ति-स्थिति-संहार-तिरोधानानुग्रहात्मकानि अवसानं समाप्तिर्यस्य तथाविधम् । पञ्चविधैः कृत्यैरेव जगतः सर्वोऽपि सृष्टिप्रपञ्चः परि-

किमपि निगमरूढं गूढतत्त्वं प्रपन्ना
शिशिरयतु, मदीयं स्वान्तमश्रान्तमेषा ॥५॥

जननि ! यदि भवत्याः शक्तिरात्मप्रभावं
व्यपनयति, तदानीं निष्क्रियो लोक एषः ।
इति परिचिततत्त्वेऽप्यज्ञभावं भजन्त-
स्तवसमयविमूढाः संसरन्ति, स्खलन्ति ॥६॥

प्रकृतिगुणविकाराः प्राकृते व्याप्रियन्ते,
न खलु पुरुषभावे दर्शनेऽस्मिन् स्फुटेऽपि ।

समाप्यत इत्यर्थः। इयं पञ्चकृत्यसमष्टिरेव यथाक्रमं आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनतश्च आगमेषूद्घुष्यत इति प्रत्यभिज्ञाहृदयादिषु स्पष्टम्। नतयः प्रणतयः, ताभिः ये सुकृतिनः पुण्यवन्तः तेषु। देवेषु ब्रह्माप्रभृतिषु। उच्चकैरित्यकच्प्रत्ययान्तमव्ययम्। अत्यर्थं भृशं, अर्पयित्वा तदधीनं विधाय। किमपि चेतोहारि, निगमाः, वेदाः, चतुःषष्टिसंख्याकानि तंत्राणि च, तेषु रूढं प्रसिद्धं यत् गूढतत्वं अन्तःसारं, तं प्रपन्ना संप्राप्ता सती, एषा विश्वेषामपि मातृरूपेणावस्थिता, अश्रान्तं बाढं यथा स्यात् तथा मदीयं स्वान्तं मानसं, शिशिरयतु शीतलयतु।

६–हे जननि ! यदि भवत्याः शक्तिः पूर्णाहन्ताचमत्कारः, आत्मनः स्वस्य प्रभावं सामर्थ्यं व्यपनयति निरस्यति, तदानीं एषः पुरो दृश्यमानो लोकः संसारः निष्क्रियः निष्पन्दः संपद्यते। इति इत्थं, परिचिततत्त्वे अपि, ज्ञातसारेऽपि वस्तुनि, अज्ञभावं मूढप्रायामवस्थां भजन्तः आसेव्यमानाः, तव भवत्याः, समयविमूढाः समयाचारपराङ्मुखाः, मुग्धात्मान इति यावत्। संसरन्ति भूयोभूयः संसारिभावं भजन्ते, स्खलन्ति पतनमनुभवन्ति च। त्वद्विमुखा एव नराः पदे पदे व्यामोहभाजः पतनपर्यवसायिनश्च जायन्त इति भावः। तथा च शान्तिस्तवः–

'आपदो दुरितं रोगाः समयाचारलङ्घनात्।' इति।

७–प्रकृतेः मूलप्रकृतेः, ये गुणविकाराः गुणानामुपप्लवभूताः विकृतयः। ते च–

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सांख्यकारिका)

तव समयसपर्याभावनान्धः शरीरी,

सकलजननि ! नाहंभावभावं जहाति ॥७॥

श्रुतिरपि परिमातुं यां न शक्नोत्यशेषा-

त्तदितरजनगाथाजल्पनास्तां, सुदूरे ।

इति सांख्यनये संख्याताः । प्राकृते प्रकृतेरयं प्राकृतः, तस्मिन् प्रकृतिसम्बन्धिनि । व्याप्रियन्ते व्याप्त्या अवतिष्ठन्ते । पुरुषभावे पुरि शयाने जीवपदाभिलप्ये स्वात्ममहेश्वरे, न खलु व्यापृता भवितुमर्हन्ति । 'असङ्गोऽयं पुरुषः' (सांख्यसू० १.१५) इति शासनात् । इति एवंरूपेण, अस्मिन् प्रकृतिपुरुषविवेचनापरे दर्शने, स्फुटे स्फीते सत्यपि तव भवत्याः या समयसपर्या, समयाचारैः समृद्धा अन्तर्याग-बहिर्यागरूपा वरिवस्या, तस्याः भावनया पुनः पुनश्चिन्तनरूपया अन्धः आनन्दनिमीलितनयनो भवन्निव । शरीरी पाशत्रयसंदानितो जीवः । हे सकलजननि ! अशेषभुवनमातः ! अहंभावस्य, अहङ्कारापरपर्यायस्य अहमितिस्फुरणात्मकस्य, भावं अवस्थाम् न जहाति न मुञ्चति । प्रत्युत अहंभावभरित एवोल्लसति इति तात्पर्यम् ।

८—यां श्रुतिः, आम्नायोऽपि, अशेषात् अशेषविशेषभावात्, परिमातुं अभिधातुं न शक्नोति न प्रभवति । तदितराः, ये जनाः अस्मदादयः, तेषां गाथा पद्यमयी जल्पना, सुदूरे विप्रकृष्टतरे, आस्तां तिष्ठतु । इति एवंरूपेण, विहितविवेकः, कृतनिश्चयः 'पाहि पाहि' 'रक्ष रक्ष' इति जल्पन्, आर्तभावेन प्रलपन्, कथमपि येन केनापि रूपेण तव भवत्याः, पादयोः ध्याने तदेकतानतारूपे चिन्तने, दत्तादरः बहुमानः, स्याम् भवेयम् । अयमत्र निष्कर्षः-श्रूयत एव हिरण्यगर्भादिगुरुपरंपरया न तु केनचित् क्रियत इत्यपौरुषेयी स्वयं प्रमाणभूता वागपि यदभिधातुं नालङ्कर्मीणा, तदा वागन्तरस्य का कथा । तत एव 'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' इत्येवमादि प्रवृत्तम् । इह प्रकाशांशेन शिव इति विमर्शांशेन शक्तिरिति व्यवहारस्तु भेदविवक्षयैव प्रवर्तते । शिवाद्वयदर्शने-

'शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वन्हिदाहिकयोरिव ॥'

इत्यादिनिरूपणात् । तत एव च-

इति विहितविवेकः पाहि पाहीति जल्पन्
कथमपि तव पादध्यानदत्तादरः स्याम् ॥८॥

॥ इति सकल-जननी-स्तवः ॥६॥

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

इत्येवं प्रत्यभिज्ञादिषु सारनिष्कर्षः । 'पुरमथितुराहोपुरुषिका' 'परब्रह्ममहिषी' इत्येवंविधा आलापास्तु उपासनाभिप्रायेणैव नीयमानाः सङ्गच्छन्त इति संक्षेपः ।

॥ इति सकलजननी-स्तवः ॥

१–इयमेव भुवनेश्वरीप्रभृतिविद्यासमष्टीनां प्रसवभूमिः, सर्वतत्त्वानामधिष्ठानभूता च । अस्याः सकलजननीत्वम्—

'कामो योनिः कमला वज्रपाणि-
गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या ॥'

इति शौनकशाखीयया आथर्वणश्रुत्याप्यावेद्यते । तथा ऋग्वेदेऽपि—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इत्येवमाद्याः प्रतिपत्तयः । तत एव चास्याः महिमानं पुरस्कृत्य—

'त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या जाता महेश्वरी ।
स्थूलसूक्ष्माविभागेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥
कवलीकृत-निःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।
यस्यां परिणतायां तु न किंचित् परिशिष्यते ॥'-

इत्यागमवेदिनां घण्टाघोष इति दिक् ।

सप्तम-स्तवः ।

निरर्गलसमुन्मिषन्नवनवानुकम्पामृत–

प्रवाहरसमाधुरीमसृणमानसोल्लासिनि ! ।

नमज्जनमनोरथप्रणयनैकदीक्षाव्रते !

निधेहि मम मस्तके चरणपङ्कजं तावकम् ॥१॥

नमन्मृडजटाटवीगलितगाङ्गतोयश्रिते !

स्फुरन्मधुरविग्रहप्रचुरकान्तिसंदानिते ! ।

सुसौरभकरम्बिते ! त्रिपुरवैरिसीमन्तिनि !

त्वदीय-पदपङ्कजे मम मनो मिलिन्दायताम् ॥२॥

सप्तम-स्तवः ।

१–निरर्गलं स्वच्छन्दं, समुन्मिषन्ती आविर्भवन्ती, या नवनवा नवोल्लास-प्रचुरा, अनुकम्पा कारुण्यं, तदेव अमृतं सुधा, तदुत्थो यः प्रवाहरसः रसनिर्झरः, तस्य या माधुरी मधुरिमा, तया मसृणं स्निग्धं मानसं उल्लसति यस्याः सा तथाभूता। तत्संबुद्धिः । नमन्तः श्रद्धया प्रह्वीभवन्तः ये जनाः, तेषां ये मनोरथाः हृदयोत्था अभिलाषाः, तेषां प्रणयनं सम्यक् पूरणमेव, एका दीक्षा यागः, सैव व्रतं नियमो यस्याः तत्संबोधनम् । मम मस्तके शिरसि, तावकं त्वदीयं, चरण-पङ्कजं पादपद्मं, निधेहि स्थापय।प्रार्थनायां लोट्। पृथ्वीछन्दः ।

२–नमन्ती मृडस्य शिवस्य, या जटाटवी जटैव अटवी, जटाभरः ततो गलितं स्खलितं, यत् गाङ्गतोयं मन्दाकिनीसलिलं, तेन श्रिता सेविता । स्फुरन् उल्ल-सन्, यो मधुरविग्रहः लावण्यमयं शरीरं, तस्य या प्रचुरा कान्तिः छविः, तया सन्दानिते बद्धे । 'बद्धे संदानितम्' इत्यमरः । सन्दानं संजातमस्य इत्यर्थे तारकादित्वात् इतच् । त्रिपुरवैरिणः त्रिपुरासुरहन्तुः शिवस्य सीमन्तिनी योषित् । त्वदीयं यत् पदपङ्कजं चरणारविन्दं तस्मिन् । मम मनः मिलिन्दायताम् मिलिन्दो भ्रमरः स इव तन्मयीभावम् आपद्यताम् । मिलिन्दायतामित्याचारार्थे क्यच् ।

उदञ्चय दृगञ्चलं, रचय सान्द्रसान्द्रां दयां
विकासय निजं पदं, विघटयाशु दुःखत्रयम् ।
अये ! प्रकटयाधुना विधुततर्कजालामल-
प्रबोधरसमाधुरीं विविधमङ्गलारम्भिणि ! ॥३॥
त्वयैव जगदङ्कुरो भवनविक्रियां नीयते,
किमित्यपरकल्पना तदुदरान्तरालम्बिनी ।
अनन्यसदृशक्रिये ! भगवतीं विहायाहकं
कथं कथय चेतनः शशविषाणमाप्तुं यते ॥४॥

३—दृशौ अपाङ्गे एव अञ्चलं, तत् उदञ्चय उन्मीलय । सान्द्रसान्द्रां घनाघनां, दयां रचय विस्तारय । निजं पदं, स्वकीयं धाम विकासय, दुःखत्रयं आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकरूपं आशु विघटय वियोजय । अये इति कोमलामन्त्रणे अव्ययम् । विविधानि यानि मङ्गलानि अभीष्टार्थसिद्धिरूपाणि तेषां आरम्भः उन्मेषः अस्ति अस्याम्, तत्संबुद्धिः । विधुतः दूरं उत्क्षिप्तः, तर्कजालो यस्मात् तादृशः, निरस्तशङ्कातङ्कः यः अमलः निर्मलः प्रबोधरसः स्वसंविदुल्लासः, तस्य माधुरीं प्रकटय प्रकाशय ।

४—त्वया भवत्या एव, जगदङ्कुरः जगदुत्पत्तिबीजं, भवनविक्रियां भावविकाररूपामवस्थां, नीयते इति कल्पनैव स्थेयतया हृदयसंवादमादधाति । तस्याः उदरं तदुदरम् तदुदरान्तरमालम्बते इति तदुदरान्तरालम्बिनी, तदन्तःपातिनी प्रतिप्रसवायमाना, अपरा कल्पना कारणान्तरवादः, किमिति निःसारतया प्रस्तूयताम् । समानमिव दृश्यते इति सदृशः । न विद्यते अन्यसदृशी क्रिया व्यापारः अस्यामिति तत्संबुद्धिः । लोकोत्तरघटनातत्परे इतिभावः । भगवतीं ऐश्वर्योल्लासमयीं, विहाय उत्सृज्य, चेतनः सचेतनो भवन्, अहकं अहं, 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः(पा०सू०५.३.७१)इत्यकच् प्रत्यय । शशविषाणम् अवस्तुरूपं कल्पनामात्रसारं शशशृङ्गं, आप्तुं अधिगन्तुं, कथं यते उद्युक्तो वर्ते इति कथय, त्वमेव अभिधत्स्व । जगतः सृष्टिनिरूपणप्रस्तावे क्वचिद् विश्रामो वाच्य इति नयेन विविधकारणकल्पनासंघट्टः केवलं गौरवाय परिणमन् न क्षोदक्षम इति लाघवात् भवत्याः सकाशादेव सर्वमपीदं दृश्यजातं प्रसूयत इत्यभ्युपगम एव हृदयंगमः पन्था इति भावः ।

भवेद्यदि जपावनी सरिदुदञ्चदर्कच्छटा-
स्फुटारुणिममज्जिमा मसृणलोहितेहाब्जिनी ।
कथंचन तदा मनो जननि ! तावकाङ्गप्रभा-
श्रियं तुलयितुं व्रजेत्तदपि तस्य कापेयकम् ॥५॥

निसर्गमधुराकृते ! गिरिशनेत्रराकायिते !
नवावृतिचमत्कृते ! परिलसत्सपर्याकृते ।
मयाद्य मनसा धृतेऽचिरय मातरुद्यद्दया-
सुधाह्रदनिमज्जनाकरणकेलिसीमायिते ! ॥६॥

५-यदि अवनी धरामण्डलं जपापुष्पवत् अरुणारुणं भवेत् । संभावनायां लिङ् । जपापुष्पं, 'गुडहल' इति लोके प्रसिद्धं रक्तवर्णं पुष्पम् । सरित् तटिनी, तस्यां उदञ्चतः उदयं गच्छतः, अर्कस्य विवस्वतः, या छटा दीप्तिपुञ्जः तस्या अपि यः स्फुटः स्फीतः, अरुणिमा लौहित्यं, तस्य मज्जिमा मज्जनम् अवगाहनमिति यावत्, यदि नाम भवेत् । इहापि पुनर्मसृणलोहिता स्निग्धरक्तवर्णसवर्णा, अब्जानां समूहः अब्जिनी कमलवनी यदि स्यात् । तदा हे जननि ! तावकानि यानि अंगानि सिन्दूरारुणवर्णानि करचरणादीनि, तेषां प्रभाश्रियं दीप्तिसौन्दर्यं तुलयितुं उपमातुं कथञ्चन कथं कथमपि व्रजेत् यायात् । परं तदपि तादृशम् उपमासामञ्जस्यमपि, तस्य कविकर्मासक्तस्य कवितुः, कापेयकं कपिचापलवदुपहासास्पदमेव केवलं भवेत् । कापेयकमिति 'कपिज्ञात्योर्ढक्' (पा० सू० ४. १. १२७) इति ढक् प्रत्ययः, ततः स्वार्थे कन् ।

६-निसर्गमधुरा स्वभावसुन्दरा आकृतिः स्वरूपं यस्याः तत्सम्बोधनम् । गिरिशस्य शिवस्य वामनेत्रस्वरूपेण राकायिते, पूर्णचन्द्रमण्डलत्वेन शोभमाने । नव नवसंख्याकाः या आवृतयः आवरणानि ताभिः चमत्कृते मञ्जुलस्वरूपे । राजराजेश्वर्याः नवावरणत्वं आगमशास्त्रे सुप्रसिद्धम् । परितः नवावरणमण्डलरूपेण सह लसन्ती या सपर्या वरिवस्या, तस्याः कृते सपरिवारायास्तव अर्चनार्थमिति भावः । मया अद्य पूर्णचन्द्रोल्लासिते पूर्णातिथिपर्वणि, मनसाधृते, एकतानेन हृदयान्तः प्रतिष्ठापिते, उद्यन्ती या दया तस्याः यः सुधाह्रदः अगाधपीयूषसरः, तत्र निमज्जनाकरणे स्नानावगाहनसंपादने या केलिः क्रीडा तस्याः सीमायिते सीमाभूते हे मातः ! अचिरय स्नानादिकं निर्वर्त्य सत्वरं यागमण्डपमलङ्कुरुष्व ।

महेश्वरपरिग्रहे ! स्तुतिपरायणानुग्रहे !
महास्फुरणविग्रहे ! निरययातनानिग्रहे ! ।
प्रसीद सुखसंग्रहे ! प्रणतदुःखभङ्गाग्रहे !
विनाशितमहाग्रहे ! विमलभक्तियोगग्रहे ! ॥७॥

महाभयनिवारिणी, सकलशोकसंहारिणी,
भवाम्बुनिधितारिणी, दुरितजातविद्राविणी ।
अहंमतिविदारिणी, पतितमण्डलोद्धारिणी,
ममान्तरविहारिणी, भवतु सौख्यसञ्चारिणी ॥८॥

॥ इति सौख्याष्टकम् ॥७॥

७–महेश्वरेण परिग्रहः स्वीकारो यस्याः सा, तत्संबुद्धिः । महेश्वरस्य परिग्रहः कलत्रमिति वा विग्रहः । परिगृह्णाति परिग्रहणं वा परिग्रहः । 'ग्रहवृद्दनिश्चि'-(पा.सू.३.३.५८) इत्यादिना अप् । 'परिग्रहः कलत्रे च मूलस्वीकारयोरपि' इत्यजयः । महेश्वरसङ्गिनि इत्यर्थः । स्तुतौ परायणः तत्परः, तस्मिन् अनुग्रहः अभीष्टप्रदानरूपः प्रसादो यस्याः । महास्फुरणं पूर्णाहन्ताचमत्कारसारः स्वसंविदामोदभरः तदेव विग्रहः कायो यस्याः । निरययातनाः नरकोत्था तीव्रवेदनाः, तासां निग्रहा निरोधिनी । सुखस्य चतुर्वर्गप्रभवस्य संग्रहः समाहरणं यस्याम्, तथाभूता । प्रणतानां दुःखभङ्गे दुःखोत्सादने आग्रहः अभिनिवेशो यस्याः । महान् स चासौ ग्रहश्च महाग्रहः महत्संकटं, नवग्रहाद्युत्थो रोगादिजनितो वा मृत्युसमो दुःखसंपातः । विनाशितः महाग्रहोऽनया । विमलेन शुद्धेन भक्तियोगेन ग्रहः ग्रहणं यस्याः । सर्वाणि पदानि संबोधनान्तानि इत्यवधेयम् ।

८–महाभयं आधि-व्याध्युत्त्थं शारीरं मानसं च उद्वेगकरं साध्वसम्, चौरादिभूतोपद्रवश्च तस्य निवारिणी दूरोत्सारिणी । सकलाः संसारोद्भवाः ये शोकाः शुचः, तेषां संहारिणी संहारकर्त्री । भवः संसार एव, दुस्तरत्वात् अम्बुनिधिः समुद्रः, तस्य तारिणी तारयित्री । दुरितजातं दुष्कृतराशिः तस्य विद्राविणी क्षरणकर्त्री । अहंमतिः 'अहो अहम्' इत्येवंरूपो मायिकोऽहन्तावेशः तस्य विदारिणी । पतितानां पथच्युतानाम् यन्मण्डलं समूहः, तस्य उद्धारिणी उद्धारपरायणा । मम अन्तरे हृदये विहारिणी विहरणशीला । सौख्यस्य आत्मानन्दरूपस्य लौकिकस्य च संचारिणी संचारोद्यता भवतु जायताम् । प्रार्थनायां लोट् ।

॥ इति सौख्याष्टकम् ॥

अष्टम-स्तवः ।

आदावेकां लोकसिसृक्षारसजुष्टां,
द्वन्द्वाध्युष्टां, भूतनिकायान् कलयन्तीम् ।
मायामुख्यैर्नामभिराद्यैरुपदिष्टां,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥१॥

मूलाधारादा च विशुद्धेः प्रविभक्तां,
शाब्दीं सृष्टिं, पात्रविशेषाद् घटयन्तीम् ।
श्रौतैः स्मार्तैः पौरुषसूक्तैरुपगीतां,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥२॥

अष्टम-स्तवः ।

१–आदौ जगन्निर्माणात् प्राक्, एकां अद्वितीयां, लोकस्य जगतः, या सिसृक्षा स्रष्टुमिच्छा, तद्रसेन रागेण जुष्टा आनन्दनिर्भरा ताम् । द्वन्द्वं दाम्पत्यरूपं स्त्रीपुंसयोर्मिथुनं, तत्र अध्युष्टां कृताधिवासाम् भूतनिकायान्, जरायुज-अण्डज-स्वेदजोद्भिज्जेति चतुर्विधान् भूतसङ्घान् कलयन्तीं घटयन्तीम् । मायामुख्यं एषु तैः, 'माया कुण्डलिनी क्रिया' इत्येवमादिभिः पारायणप्रशस्तैः नामभिः अभिधानैः, आद्यैः ऋषिमुन्यादिभिः, आप्तवर्गैः, उपदिष्टां विशिष्य बोधिताम् । अमन्दः स्फारः द्योतकदम्बः प्रकाशस्तोमोऽस्यामिति अमन्दद्योतकदम्बा ताम्, सकलजननीं वन्दे अभिवादये ।

२–मूलं चासौ आधारश्च मूलाधारः भूतत्त्वप्रधानं कुलकुण्डादिव्यपदेश्यं षडादिचक्रे प्रथमम् । तत आरभ्य सुषुम्णाध्वना स्वाधिष्ठान–मणिपूरा–नाहतचक्रान् विभेदयन्ती, आ च विशुद्धेः विशुद्धिपर्यन्तम् । प्रविभक्तां वितताम् । आङभिविधौ । विशुद्धिर्नाम षोडशदलपद्माधिष्ठानभूतं ग्रीवाकूपम् । पात्रविशेषात् कृपाकटाक्षपूतादनुरूपभाजनात् । पात्रत्वं चैवं स्मर्यते–

'न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्ती इमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥'

शाब्दीं सृष्टिं, शब्दात्मकं विवर्तं, घटयन्तीमित्यत्रान्तर्भावितण्यर्थः, प्रेरणया तथा कलयन्तीम् । श्रौतैः श्रुतिभवैः, स्मार्तैः स्मृत्युपारूढैः, पौरुषसूक्तैः श्रुतिमधुराभिः पौरुषकृतिभिः, उपगीतां भावोपहारैरर्चिताम्, अन्यत् पूर्ववत् ।

ऐन्द्रीं भूतिं भक्तजनेभ्यो वितरन्तीं,
ह्रीँ कुर्वाणां, तद्विमुखेषु प्रतिवेलम् ।
श्रीँ निर्दोलां तद्भवनान्ते विदधानां,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥३॥

३-भक्तजनेभ्यः भक्त्युच्छलितहृदयेभ्यश्चरणाराधकेभ्यः, ऐन्द्रीं इन्द्रोपभोगयोग्यां, भूतिम् ऐश्वर्यं,वितरन्तीं सप्रसादमुपहरन्तीम् । तेभ्यो विमुखाः तद्विमुखाः भक्तजनसपत्नाः, तेषु प्रतिवेलं प्रतिनिमेषं, ह्रीं कुर्वाणाम् , पराजितत्वेन लज्जाऽधोमुखान् विदधतीम् । अथवा मायाबीजप्रतिपाद्याः सृष्टिस्थितिसंहारास्तदर्थत्वेन पर्यवस्यन्ति इति तान् जन्मजरामरणक्लेशकदर्थितान् कुर्वाणाम् । अत्र 'ह्री ई' इति पदयोः समासे ह्रीमिति रूपम् । तच्च कूटपारायणवर्त्मना सङ्गमय्य नेयम् । अस्य विष्णोः पत्नी 'ई' इत्येवं रूपोऽर्थोऽपि यथासंभवमुन्नेयः । तदित्थं कल्पद्रुमायमाणस्यास्य मायाबीजस्य तत्प्रतिपाद्यायाश्रियश्चार्थो यथाप्रसङ्गमूहनीयः । एवमुत्तरत्र श्रीपदेऽपि द्रष्टव्यम् । ह्रीमिति स्वरादेराकृतिगणत्वादव्ययत्वम् । अतएव ललितात्रिशत्यां 'ह्रीं नमः' इति चतुर्थ्यन्तं प्रयुज्यमानमुपपद्यते ।

वस्तुतस्तु 'ऐम्' इत्यादीनां वर्णविशेषाणां तद्विशेषघटितानां कूटानां च यथान्यायं यथादर्शनं वा पञ्चाशतस्त्रिषष्टेर्वा वर्णानामिव व्यवस्थैव न्याय्या । अतएव षोडशस्वरेषु पञ्चस्वरान् गृह्णाना ज्योतिषिका, नवस्वरान् गृह्णाना वैयाकरणाश्च स्थेयभावं न जहति । दीक्षितैः शब्दकौस्तुभस्य पस्पशाह्निके दीर्घलृकारं पश्यद्भिः किञ्चिदभिहितमपीति तत एवाकलनीयम् । अपि च, जात्यादिशब्दविभागसंरम्भोऽपि केवलीभावेन ईश्वरं नाभिधत्ते । जात्यादिकत्वातिक्रान्तं वस्तु कथमिवाभिदध्यात् । परमेश्वर इति वृत्तिस्तु अभिधत्ते इत्यन्यदेतत् । किमियता, ओङ्कारोऽपि तादृशदोषावत्त्वान्नातिरिच्यते । अतएव च – 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति प्रतिपादितं वस्तु स्वाभिधेयं वर्णकूटपारायणं चतुरस्रं मन्यत इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

तद्भवनान्ते भक्तजनास्यावासेषु, निर्दोलां निश्चलां, श्रीं श्रियोऽवस्थानं विदधानाम् । वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वासिष्ठरामायणोक्तआभाणकन्यायेन इह वाग्भव-माया-कमलाबीजप्रयोगैः भगवत्या त्रिपुरसुन्दर्यास्त्रितारीयोगोऽपि श्लेषमर्यादया ध्वनितो यथायथं विभावनीयः ।

किं बन्धूकैः, किं नु जपाभिः, किमु रक्तै-
रब्जैरुद्यद्भास्कररागैरुत सृष्टैः ।
अङ्गै रिङ्गत्कान्तिवितानैरभिरामां,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥४॥

याऽपर्णाहो तापनिरासाय सपर्णा,
वर्णातीता वर्णविशेषाञ्जुषमाणा ।
तां वैचित्र्योद्भासनसूनावलिवल्लीं,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥५॥

४—बन्धूकैः बन्धूकपुष्पैः किं नु, जपाभिः जपापुष्पैर्वा किं नु, रक्तैररुणवर्णैः अब्जैरुत्पलैर्वा किमु ? उद्यतः उदयं गच्छतः भास्करस्य बालातपमूर्तेः, रागैः लोहितवर्णैः, सृष्टैरभिनिष्पन्नैर्वा किमु? यतो हि अरुणिमातिशयमावहन्तोऽप्यमी लौकिकाः पदार्थसार्थाः नियतिनियन्त्रणया स्वस्वोत्कर्षविश्रान्तिभुवो गुणाधान-दृशा स्पृहणीया भवन्तोऽपि नाम्बया अरुणाङ्गरागया सह उपमातुलामधिरोढुं अलङ्कर्मीणा इति किमेभिः सृष्टैरसृष्टैर्वा फलमुपकल्पनीयम् । रिङ्गन्तीनां स्फीतं समुपसर्पन्तीनां, कान्तीनां भासां, वितानः विस्तारः येषु एवंभूतैः अङ्गैः कर-चरणादिभिः अभिरामां सुन्दरीम् ।

५—अहो इत्याश्चर्येऽव्ययम् । या, अपर्णा न विद्यते पर्णं पत्रं अदनीयत्वेन यस्याः सा तथाभूता । तथा च पुराणे—

'आहारे त्यक्तपर्णाभूत् यस्माद् हिमवतः सुता ।
तेन देवैरपर्णेति कथिता पृथिवीतले ॥'

अथवा 'अपर्णा तु निराहारा तां माता प्रत्यभाषत' इति निराहारा इत्यर्थः । कुमारसंभवेऽपि—

'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥'

नीपश्रेणीशालिनि चिन्तामणिगेहे,
पीठासीनामावृतिचक्रैरुपगूढाम् ।
ब्रह्मादिभ्यो वाञ्छितमर्थं प्रथयन्तीं,
वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥६॥

पर्णं पतनमिति निरुक्त्या पतनरहिता वा । अथवा अपगतं ऋणं यस्याः सेति । तदुक्तं देवीस्तवे—

'ऋणमिष्टमदत्त्वैव त्वन्नाम जपतो मम ।
शिवे ! कथमपर्णेति रूढि र्भारायते न ते ॥'

प्रत्यक्षं पश्यतो लोकस्य, तापनिरासाय संतापापनुत्त्यै, सपर्णा पर्णमात्मनि गृह्णाना । वर्णेभ्यः पञ्चाशतस्त्रिषष्टेर्वा अतीता अतिक्रान्ता । अथवा वर्णाः सत्वरजस्तमांसि, तेभ्यः अतीता निष्क्रान्ता, साम्यावस्थाभिमानिनी इत्यर्थः । वर्णविशेषान् मातृकोद्भवान् मन्त्रशरीरघटकान् जुषमाणा सेवमाना । वैचित्र्यस्य नानाविधस्य प्रमातृप्रमेयपरिगतस्य उद्भासनाय बहिरुल्लासाय याः सूनाः तनयात्वमनुप्रपन्नाः स्वाङ्गादेवोल्लसन्त्यः सहस्राधिकाः शक्तयः, तासां आवलिः पङ्क्तिः, तस्याः वल्लीं व्रततीम् ।

६–नीपानां कदम्बकुसुमानां श्रेणीं वीथीं शालते तथाभूते, कदम्बप्राकारपरिवृते चिन्तामणिगेहे पीठासीनाम् । पीठमिह श्रीमातुरुपवेशनार्थं पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्निर्मितो मञ्चकविशेषः, तत्र आसीनाम् उपविष्टाम् । आवृतिचक्रैः आवृतीनां आवरणदेवतानां चक्रैः समुदायैः उपगूढां कृतपरिरम्भाम् । ब्रह्मादिभ्यः ब्रह्मविष्णुरुद्रेभ्यः वाञ्छितमिष्टमर्थं प्रयोजनजातं प्रथयन्तीं आतन्वतीम् । चिन्तामणिगेहं भगवत्याः प्रधानं वासभवनम् । तच्च–

'सुधासिंधो र्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥' इत्येव–

मुपवर्ण्यमानं अलौकिकं किमपि दिव्यमागारम् ।

स्फूर्जत्सान्द्रामोदतरङ्गावलिलीनै-

र्र्चामाप्तां, षोडशमुख्यैरुपचारैः ।

उद्यन्नानालङ्कृतिरत्नद्युतिपुञ्जां,

वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥७॥

माद्यद्देवारब्धनमस्यानिकुरम्बां,

व्यापच्छैलच्छेदविलक्षीकृतशम्बाम् ।

७–स्फूर्जत् स्फारस्फुरत्, यः सान्द्रः आमोदः घनानन्दः, तस्य या तरंगावलिः वीचिप्रवाहः, तत्र लीनैः अन्तःसंपृक्तैः, षोडशमुख्यैः गन्धादिभिरुपचारैः भावोपहारायमाणैः । यत्तु परमाद्वयदर्शने संविन्मयत्तयावस्थानमेव यागः, तत्समापत्तिरेव च फलमिति प्रतिपादयता स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानमेव इह पूजापदार्थ इत्यादि सिद्धान्तितम् , तत्केवलं उत्तमाधिकारिपरमेव मन्तव्यम् । अस्मदादीनाम् लौकिक-उपासनामार्गस्त्वस्माद् भिन्नप्रणालिक एवेति देशिकसमयः। तत एव च तन्त्रालोके-

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

इत्यादि पठ्यते । अतएव आगमविदः-

'इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवता ।
स्वभावेन समाराध्या ज्ञातुः सोऽयं महामखः ॥'इति ।

तथा –

'करणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम् ।
विश्वाहंकृतिपुष्पैस्तु पूजयेत् सर्वसिद्धये ॥'

इत्येवमादि च प्रतिपद्यन्त इति सुदूरेक्षिकया पर्यालोच्यम् । उद्यन्त्यः चकासन्त्यः, याः नाना अनेकाः अलंकृतयः आभूषणानि, तासु जटितानां रत्नानां द्युतिपुञ्जः दीप्तिचयः अस्ति अस्याम् ।

८–माद्यन्तः हर्षोल्लासपरीताः, देवाः द्रुहिणप्रभृतयः, तैः आरब्धाः प्रवर्तिताः, याः नमस्याः नतयः, तासां निकुरम्बः समूहः अस्ति अस्याम् । व्यापदां भयंकरापदां यः शैलः कूटः, तस्य च्छेदेन सम्यगुच्छेदेन, विलक्षीकृतः विस्मयमानीतः शम्बो वज्रमनया, ताम् । आज्ञादाने अनुचरत्वमापन्नेभ्यो ब्रह्मादिभ्यः आदेशप्रदाना-

आह्लादानान्दोलनहृद्याधरबिम्बां,

वन्देऽमन्दद्योतकदम्बां जगदम्बाम् ॥८॥

ब्रह्मविष्णुमहेशांश्च गमयन्ती महर्षिताम् ।

यन्त्रात्मना[1] परिणता पुनातु परमेश्वरी ॥६॥

॥ इत्यम्बा-वन्दना ॥८॥

वसरे यत् आन्दोलनं इतस्ततो वा विजृम्भणं तेन हृद्यं रमणीयं अधरबिम्बं अधरोष्ठकान्ति र्यस्याः ताम् ।

६-ब्रह्मविष्णुमहेशान् महर्षितां महर्षिभावं, गमयन्ती प्रथयन्ती, यन्त्रात्मना त्रिकोणादियन्त्राकारेण परिणता परिणतिमासादयन्ती परमेश्वरी परब्रह्ममहिषी पुनातु पवित्रयतु लोकान् । इह ब्रह्मादीनां ऋषित्वमित्युत्कर्षस्य पराकाष्ठा । अतएव 'अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि' इति, तथा 'त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगणः, त्वमेकानैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया' इति च वस्तुस्थितिकथनमेव प्रतिपत्तव्यं, न पुनश्चाटूक्तिरिति शम् ।

॥ इत्यम्बा-वन्दना ॥

१-यन्त्रपदेन श्रीचक्रमिह परामृश्यते । यन्महिमाशंसनं वेदेषूपनिषत्सु च विविधभङ्गिभिरुपवर्ण्यमानं परीक्ष्यते । अस्योद्धारो यामले-

'बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-

मन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।

वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च

श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ॥' इति ।

एवं- 'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।

शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयो र्वपुः ॥ इति च ।

शिवशक्तिसंपुटमये सोमसूर्यानलात्मके चास्मिन् यन्त्रराजे ऊर्ध्वमुखानि त्रिकोणानि शिवात्मकानि अधोमुखानि च शक्त्यात्मकानीति प्रतिपत्तव्यम् । 'अधोमुखं चतुष्कोणं शिवचक्रात्मकं विदुरि'त्यपि तन्त्रान्तरानुशिष्टो मार्गः । तत्र च यथाम्नायं स्व-स्वदेशिकमतानुसरणमेव शरण्यं प्रतीमः । एकमपीदं मातृकादितादात्म्यमहिम्ना मेरु-कैलास-भूप्रस्तारैस्त्रिधा पर्यवस्यति । अस्योल्लेख-प्रकारोऽपि संहार-सृष्टि-स्थितिभेदैः कल्पसूत्र-विशुद्धेश्वरतन्त्रादिष्वनेकधा प्रपञ्चित इति । सुन्दरीतापिनी-प्रपञ्चसारसंग्रह-वामकेश्वरादिषु च भूयानस्य विस्तर इत्यधिकं तत एव द्रष्टव्यम् ।

नवम-स्तवः ।

रक्तामरीमुकुटमुक्ताफलप्रकरपृक्ताङ्घ्रिपङ्कजयुगां,
व्यक्तावदानसृतसूक्तामृताकलनसक्तामसीमसुषमाम् ।
युक्तागमप्रथनशक्तात्मवादपरिषिक्ताणिमादिलतिकां,
भक्ताश्रयां श्रय विविक्तात्मना घनघृणाक्तामगेन्द्रतनयाम् ॥१॥
आद्यामुदग्रगुणहृद्याभवन्निगमपद्यावरूढसुलभां,
गद्यावलीवलितपद्यावभासभरविद्याप्रदानकुशलाम् ।

नवम-स्तवः ।

१–रक्ताः अनुरक्ताः, या अमर्यः देवाङ्गनाः तासां मुकुटेषु मुक्ताफलानां यः प्रकरः समूहः, तेन पृक्तं चुम्बितं अङ्घ्रिपङ्कजयोः पदपद्मयोर्युगं युगलं यस्याः । व्यक्तं प्रसिद्धं यत् अवदानं कर्मवृत्तं, तेन सृतं व्याप्तं सूक्तं प्रशंसावाद एव अमृतं तस्य आकलने श्रवणे सक्तां प्रसक्ताम् । असीमा सीमामतिक्रान्ता सुषमा सौन्दर्यं यस्याः सा ताम् । युक्तः योग्यतया संमतः, यः आगमः अर्धनारीश्वरमुखोद्गतः, तस्य प्रथने प्रख्यापने, शक्तः सामर्थ्यभरितः, यः आत्मवादः अहमामर्शः तेन परिषिक्ता आर्द्रीकृता अणिमादिलतिका यस्याः सा ताम् । भक्तस्य आश्रया शरणीभूता, ताम् । विविक्तः दम्भाहङ्कारादिशून्यः स चासौ आत्मा च तेन । घना निबिडा या घृणा अनुकम्पा तया आक्तां आर्द्राम् । अगानां इन्द्रः हिमालयः तस्य तनयाम् । श्रय शरणं प्रपद्यस्व ।

२–आद्यां मूलकारणरूपां, उदग्राः उत्कटाः ये गुणाः दयादाक्षिण्यादयः तैः हृद्या मनोज्ञा भवन्ती, निगमपद्या तन्त्रानुशिष्टो मार्गः, तस्मिन् अवरूढानां, परिनिष्ठितानां कृते सुलभा सुखेन लभ्या । गद्यानां अपादानां पदसमूहानां या आवली वीथी, तया वलितः समेतः यः पद्यानां छन्दोबद्धानां अवभासभरः स्फूर्तिप्राचुर्यं, तथाविधायाः विद्यायाः ज्ञानराशेः प्रदाने वितरणे कुशलां निपुणाम् । विद्याधरीभिः किन्नरवधूभिः विहितं संपादितं, पादाय हितं पाद्यं पादप्रक्षालनजलं तदादिकं यस्याः, ताम् । भृशं अत्यन्तं यथास्यात्तथा अविद्यायाः अज्ञानस्य अवसादनं उच्छेदः तस्य कृते निरवद्या सुन्दरा आकृतिर्यस्याः ताम् । मननेन अन्त-

विद्याधरीविहितपाद्यादिकां, भृशमविद्यावसादनकृते
हृद्याशु धेहि निरवद्याकृतिं मननवेद्यां महेशमहिलाम् ॥२॥
हेलालुलत्सुरभिदोलाधिकक्रमणखेलावशीर्णघटना-
लोलालकग्रथितमालागलत्कुसुमजालावभासिततनुम् ।
लीलाश्रयां, श्रवणमूलावतंसितरसालाभिरामकलिकां,
कालावधीरणकरालाकृतिं, कलय शूलायुधप्रणयिनीम् ॥३॥
खेदातुरः किमिति भेदाकुले, निगमवादान्तरे परिचिति-
क्षोदाय ताम्यसि वृथादाय भक्तिमयमोदामृतैकसरितम् ।

भावनया वेद्यां वेदितुं योग्याम् । महेशस्य शिवस्य महिलां पत्नीम् । हृदि आशु धेहि धारय ।

३-हेलया विलासेन लुलन्ती विलुठन्ती या सुरभेर्वसन्तसमयस्य दोला, 'हिन्दोलेति' प्रसिद्धा तस्याः अधिकक्रमणे पद्भ्यां अतिवेगेन परिचालने या खेला क्रीड़ा, तया अवशीर्णा विपर्यस्ता घटना केशपाशो यस्याः सा तथाभूता । लोलाः चञ्चलाः येः अलकाः चिकुराः तेषु ग्रथिताः गुम्फिताः याः मालाः पुष्पस्रजः ताभिः गलन्तः अधोनिर्गच्छन्तः ये कुसुमजालाः पुष्पप्रकराः तैरवभासिता शोभिता तनुर्देहो यस्याः, ताम् । लीला विलासः आश्रयो यस्याः, ताम् । श्रवणमूले कर्णप्रान्ते अवतंसिता विभूषिता रसालस्य चूतस्य अभिरामा मनोहारिणी कलिका मञ्जरी यस्याः ताम् । कालस्य अन्तकस्य अवधीरणे अवज्ञायां तत्प्रतिद्वन्द्वितया कराला भयोत्पादिनी आकृतिः स्वरूपं यस्याः ताम् । शूलं त्रिशूलं आयुधं प्रहरणं यस्य सः शूलायुधः शङ्करः, तस्य प्रणयिनीं प्रियसहचरीम् कलय हृदि भावय ।

४-भक्तिमयं भक्त्युच्छलितं यत् आमोदामृतं तस्य एका सरित् तरंगिणी ताम् । आदाय अधिगम्य । भेदैः अन्योन्यमतोपमर्दकैः प्रस्थानैः आकुले संकुले, निगमस्य वेदादेर्यो वादः अहंपूर्विकया जल्पः तदन्तरे परिचितये परिचयमधिगन्तुं यः क्षोदः आम्रेडनम् तस्मै । खेदातुरः विषादव्यग्रः सन्, किमिति वृथा निरर्थकं ताम्यसि क्लिश्यसि । पादौ एव अवनी धरित्री, भगवत्याश्चरणयोरवनीत्वेन आगमे निरूपणात् । तस्या या विवृतिः विवरणभूता वेदावली त्रयी, तस्याः स्तवननादः स्तुतिशब्दः अस्ति यस्यां सा, ताम् । उदित्वरायाः वृद्धिंगतायाः

पादावनीविनुतिवेदावलीस्तवननादामुदित्वरविप-
च्छादापहामचलमादायिनीं भज विषादात्ययाय जननीम् ॥४॥
एकामपि त्रिगुणसेकाश्रयात्पुनरनेकामिधामुपगतां,
पङ्कापनोदगततङ्काभिषङ्गमुनिशङ्कानिरासकुशलाम् ।
अङ्कापवर्जितशशाङ्काभिरामरुचिसंकाशवक्त्रकमलां,
मूकानपि प्रचुरवाकानहो विदधतीं कालिकां स्मर मनः ॥५॥
वामां गते, प्रकृतिरामां स्मिते, चटुलदामाञ्चलां कुचतटे,
श्यामां वयस्यमितभामां वपुष्युदितकामां मृगाङ्कमुकुटे ।

विपदः यः छादः छादनं तं अपहन्ति, ताम् । विपच्छायाप्रमाथिनीमित्यर्थः । अचला स्थिरा यामा लक्ष्मीः तस्याः दायिनीम् । जननीं विषादात्ययाय खेदापगमाय भज सेवस्व ।

५–एकां अद्वितीयां अपि, त्रिगुणानां सत्वरजस्तमसां यः सेकः आर्द्रीकरणं, तदाश्रयात् तत्कारणात् पुनः अनेकाभिधां नानाभिधेयतां उपगतां प्राप्तां, असंख्यैर्नामभिरभिहितामित्यर्थः । पङ्कस्य पापस्य अपनोदगतः निवारणोत्थः यः तङ्कः दुःखं तस्य अभिषङ्गेण पराभवेन 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । मुनीनां या मुक्तिविषयिणी शङ्का सन्देहः तस्य निरासे निरसने कुशला, ताम् । अङ्कापवर्जितः कलङ्करहितः, यः शशाङ्कः चन्द्रः तस्य या अभिरामा हृद्या, रुचिः शोभा तत्संकाशं तत्तुल्यं वक्त्रकमलं मुखाम्बुजं यस्याः सा ताम् । मूकान् वाक्शक्तिरहितानपि प्रचुरः वाकः येषां तान् वाचालान् विदधतीं सम्पादयन्तीं, हे मनः ! कालिकां श्यामां स्मर चिन्तय । दक्षिणदेशीयो मूककविसार्वभौमः अम्बाप्रसादात् 'मूकपञ्चशतीं' प्रणिनायेति लोकप्रसिद्धिः ।

६–गते गमने वामां मनोहरां, स्मिते ईषद्धसने प्रकृतिरामां नारीस्वभावां,कुचतटे स्तनतटे, चटुलं चञ्चलं दाम एव अञ्चलं अंशुकं यस्याः सा ताम् । वयसि श्यामां षोड़शवार्षिकीं तरुणीम् । वपुषि शरीरे अमितः भामः क्रोधो यस्याः, सा ताम् । मृगाङ्कः चन्द्रः मुकुटे यस्य तस्मिन् महेश्वरे उदितः उदीर्णः कामः इच्छाविशेषो यस्याः ताम् । मीमांसाम् वेत्ति अधीते वा इति मीमांसिका, ताम्, सिद्धान्तप्रतिष्ठापिकाम् । दुरितस्य या सीमा पराकाष्ठा तस्या अन्तिकां अन्तकरीम् । भयस्य

मीमांसिकां, दुरितसीमान्तिकां बहलभीमां भयापहरणे
नामाङ्कितां, द्रुतमुमां मातरं, जप निकामांहसां निहतये ॥६॥
सापायकांस्तिमिरकूपानिवाशु वसुधापान् भुजङ्गसुहृदो
हापास्य मूढ ! बहुजापावसक्तमुहुरापाद्य वन्ध्यसरणिम् ।
तापापहां, द्विषदकूपारशोषणकरीं, पालिनीं त्रिजगताम् ,
पापाहितां, भृशदुरापामयोगिभिरुमां, पावनीं परिचर ॥७॥
स्फारीभवत्कृतिसुधारीतिदां, भविकपारीमुदर्करचना-
कारीश्वरीं, कुमतिवारीमृषिप्रकरभूरोडितां, भगवतीम् ।

अपहरणे दूरीकरणे, बहलं भीमं यस्याः, ताम् अतिदारुणाम् । नामभिः सहस्र-नाम्ना अङ्कितां निर्दिष्टाम् । उमां मातरं पार्वतीं, निकामानि पर्याप्तानि यानि अंहांसि दुरितानि तेषां निहतये अपनुत्तये द्रुतं जप सेवस्व ।

७–हा इति खेदे अव्ययम् । मूढ ! मुग्धमते ! तिमिरस्य तमसः कूपान् गर्तानिव आशु अपायकैः सहिताः तान् , विनाशोन्मुखान् । भुजङ्गाः विटाः सुहृदः सखायो येषां तान् । वसुधां पान्ति इति वसुधापाः भूभुजः तान् । अपास्य दूरमुत्सृज्य, बहु जापावसक्तः बहु विपुलं यथा स्यात् तथा जपनिष्ठः सन् , मुहुः भूयोऽपि, वन्ध्यसरणिं लोकानुमतशासनाम् । तापं त्रिविधं संतापं अपहन्ति, ताम् । द्विषतां शत्रूणां यः अकूपारः समुद्रः, तस्य शोषणकरीम् । त्रिजगतां त्रयाणां लोकानां पालनीं योगक्षेमसम्पादिनीम् । पान्ति अस्मादात्मानं इति पापं तस्मै अहितां नाशकतया विरोधिनीम् । अयोगिभिः संयमादिशून्यैः इतस्ततो व्यासक्त-चित्तैश्च जनैः भृशं अत्यन्तं दुरापां दुःखैकलभ्यां, पावनीं पावित्र्यभूमिं उमां शैलतनयाम् पार्वतीं परिचर परिचर्यापरो भव ।

८–स्फारीभवन्ती विकाशमुपगच्छन्ती या: कृतिः रचनारूपो गुम्फः, तस्यै सुधारीतिं पीयूषप्रस्रवणं ददाति तथाभूताम् । भविकं कल्याणं तस्य पारीं पयः-पूरम्, लोके 'झारी' इति प्रसिद्धं जलपात्रं कल्याणकलशीमित्यर्थः । पार्यति पार्यते वा 'पॄ पूर्त्तौ' घञ् ङीष् च । 'गर्गरीपूरयोः पारी' इति विश्वः । उदर्कस्य भाविनः कर्मफलस्य 'उदर्क एष्यत्कालीनफले मदनकण्टके' इति मेदिनी । या रचना निर्माणं तस्य कारिः शिल्पिनी, सा चासौ ईश्वरी स्वामिनी च ताम् । कुमतेः

चारीविलासपरिचारी भवद्गगनचारी हितार्पणचणां,

मारीभिदे गिरिशनारीममूं प्रणम, पारीन्द्रपृष्ठनिलयाम् ॥८॥

ज्ञानेन जातेऽप्यपराधजाते

विलोकयन्ती करुणार्द्रदृष्ट्या ।

अपूर्वकारुण्यकलां वहन्ती,

सा हन्तु मन्तून् जननी हसन्ती ॥९॥

॥ इति आदेशाश्वधाटी ॥९॥

कुबुद्धेः कृते वारी बन्धनरज्जुः ताम् । वार्यते अनया इति वारी । 'वृ' धातोर्णिच् इन् च । 'वारी स्याद् गजबन्धिन्यां कलस्यामपि योषिति' इति मेदिनी । ऋषिप्रकरैः ऋषिसङ्घैः भूरि ईडितां स्तुताम् 'ईड स्तुतौ' । भगवतीं ऐश्वर्योल्लासिनीम् । चारः चारुगतिः नृत्यांगविशेषभूतः पदनिक्षेपः स अस्ति अस्यां, तस्या यो विलासः तेन परितः चारो अस्ति अस्याः तथाभूता भवन्ती गगनचारी आकाशचारी । भूमिचार्याकाशचार्यादिषोडशचारीणां लक्षणानि संगीतग्रन्थेषु द्रष्टव्यानि । हितानां अर्पणं प्रसादीकरणम् तेन वित्ता चणा ताम् । मारीं महामारीभयं भिनत्ति, तस्मै । गिरिशनारीं शिववल्लभाम् । पारीन्द्रः सिंहः, तस्य पृष्ठं निलयो यस्याः सा ताम् । प्रणम प्रणतिपरो भव ।

९-ज्ञानेन बुद्धिपूर्वकं अपराधजाते आगः समूहे, जाते अपि करुणार्द्रदृष्ट्या करुणासिक्तदृशा, विलोकयन्ती सस्नेहं पश्यन्ती, सा जननी अपूर्वा अप्रतिमा या कारुण्यकला करुणोदयः ताम् । वहन्ती धारयन्ती, हसन्ती हासमाचरन्ती मन्तून् अपराधान् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्चे'त्यमरः । हन्तु दूरीकरोतु ।

॥ इत्यादेशाश्वधाटी ॥

दशम-स्तवः ।

अये ! मातरव्याजकारुण्यपूर्णे !

पदं तावकं मामकं चित्तमेतु ।

जगद्वासनाभासनाधर्षणाभिः

परिक्लिष्टमालम्बमन्विष्यते तत् ॥१॥

मनोभूतमश्रान्तमश्रान्तमेव,

भ्रमद्भूतसर्गेषु नो शंशमीति ।

न विन्देऽरविन्देक्षणे ! स्वास्थ्यभावं

भवत्याः प्रसादं समन्तात् प्रतीक्षे ॥२॥

शरण्ये ! भवत्या लभे येन पादं

न मय्यस्ति तादृग्गुणस्यांशकोऽपि ।

दशम-स्तवः ।

१–अये इति कोमलामन्त्रणे अव्ययम् । मातः ! जननि ! अव्याजं निर्मायं यत् कारुण्यं करुणारसप्रवाहः तेन पूर्णे ! भरिते ! मामकं मदीयं चित्तं तावकं त्वदीयं पदं चरणाम्बुजं एतु अधिगच्छतु । जगद्वासनाः संसारोत्त्था एषणा-परपर्याया मनोभिलाषाः । तासां या भासना उद्दामविजृम्भणाः, तासां धर्षणाभिः अवमाननाभिः, परिक्लिष्टं व्याकुलीभूतं मनः, अतएव मया तत् चरणरूपं आलम्बं अवलम्बं अन्विष्यते मृग्यते ।

२–अश्रान्तं अशान्तं यत् मनोभूतं पिशाचस्वभावं मनः, दुर्निग्रहतया मनसो भूतत्वरूपणम् । भूतसर्गेषु पञ्चभूतान्तःपातिनीषु सृष्टिपरम्परासु अश्रान्तं निरर्गलं यथा स्यात् तथा भ्रमन् आहिण्डमानः नो शंशमीति सम्यक्तया नो शाम्यति । शाम्य-तेर्यङ् लुगन्ताल्लट् । अरविन्दवत् ईक्षणं नयनं यस्याः सा तत्संबुद्धिः । कमल-लोचने इत्यर्थः । स्वास्थ्यभावं शमसुखोर्जितां आत्मनः स्वाभाविकीं स्थितिं, न विन्दे न लभे । भवत्याः प्रसादं अनुग्रहं समन्तात् सर्वतः प्रतीक्षे आशोन्मुखः प्रतिपालये ।

३–शरणे साधुः शरण्या, तत्संबुद्धिः । शरणागतवत्सले ! येन यत्प्रभावेण भवत्याः पादं चरणशरणं लभे, तादृक् तथाभूतः गुणस्य ज्ञानविनयादेः अंश-कोऽपि लवोऽपि मयि नास्ते न वर्तते । सर्वथाहं गुणैः परिवर्जित इत्यर्थः ।

परित्राणकर्त्रि ! त्वमेवात्मदृष्ट्या
रुजाजालजीर्णाङ्गकं मामवाशु ॥३॥
यदाचार्यमूर्त्या भवत्या प्रदिष्टं
न तत्साधने सावधाना मतिर्मे ।
अहो विस्फुरद्वासनाक्लेशपाशा-
वृतो बम्भ्रमीम्याशु मातः ! प्रसीद ॥४॥
लसद्भूरिसिन्दूरपूरप्रकाशं
किमप्युद्यदुद्दाममोदप्रवाहम् ।
अकम्पानुकम्पापरीतं प्रसन्नं
भवत्याः स्वरूपं ममान्तश्चकास्तु ॥५॥

परित्राणकर्त्रि रक्षणपरायणे, त्वं एव भवती एव आत्मदृष्ट्या स्वतः प्रवृत्तया दया-दृशा, रुजायाः विविधप्रकृतिकस्य रोगवृन्दस्य यो जालः इन्द्रजालसदृशः, तेन जीर्णं जरायुक्तं अङ्गं देहो यस्य, तम् । मां अनन्यगतिकम् । आशु सत्वरं अव रक्ष । प्रार्थनायां लोट् ।

४-आचार्यमूर्त्या गुरुमूर्त्या । आचार्यश्च-

'आम्नायतत्त्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः ।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते ॥' इत्युक्तलक्षणः ।

'तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्' इत्यागमः । भवत्या त्वया यत् प्रदिष्टं कर्तव्यतयादिष्टं तत्साधने तस्य संपादने मे मतिः प्रज्ञा न सावधाना न जागरूका । अहो इति खेदे अव्ययम् । विस्फुरन्ती विस्फूर्जन्ती या वासना मनोमञ्जरी सा एव क्लेशपाशः दुःखजन्मा बन्धनरज्जुः, तेन आवृतः निगडितः बम्भ्रमीमि इतस्ततः पर्यटामि । हे मातः ! आशु प्रसीद प्रसन्ना भव ।

५-लसत् विद्योतमानः यः भूरि बहलः सिन्दूरपूरः सिन्दूरप्रवाहः तस्य प्रकाशः उद्योतो यस्मिन् तत् । किमपि चेतोहारि, उद्यतः उद्गच्छतः, उद्दाम-मोदस्य प्रमोदातिशयस्य प्रवाहः परीवाहो यस्मिन् तत् । अकम्पा दृढा या अनुकम्पा तया परीतम् परिपूर्णं प्रसन्नं प्रसादयुक्तं भवत्याः स्वरूपं अरुणप्रभापूरं ममान्तः अन्तरात्मनि चकास्तु उल्लसतु ।

चतुर्वर्गसम्पत्प्रदानप्रवीणैः,

स्फुरद्भिश्चतुर्भिर्भुजैर्भासमानम् ।

धनुर्बाणपाशाङ्कुशं साधु बिभ्र-

द्भवत्याः स्वरूपं ममान्तश्चकास्तु ॥६॥

६—चतुर्णां वर्गः चतुर्वर्गः, धर्मार्थकाममोक्षाणां समवायः स एव परमाभिलषणीयतया संपत् संपत्तिः । तस्याः प्रदाने वितरणे प्रवीणैः निष्णातैः, स्फुरद्भिः शोभामावहद्भिः, चतुर्भिः चतुःसंख्याकैः भुजैः हस्तैः भासमानं दीव्यन्तम् । धनुः पुण्ड्रेक्षुमयं चापः । बाणाः पुष्पमयाः सायकाः । पाशांकुशौ स्वनामप्रसिद्धौ । साधु यथा स्यात् तथा बिभ्रत् धारयत् भवत्याः श्रीमत्याः स्वरूपं सर्वाङ्गसुभगं ममान्तः हृदयाम्बुजे चकास्तु दीव्यतु । अस्या एव—

'आधाराब्जे धनुर्बाणवरदाभयलक्षिताम् ।
ध्यायेद् बन्धूकपुष्पाभां कामराजस्वरूपिणीम् ॥'

इत्येवमादीनि कामनाघटकानि ध्यानानि । तत एव परापरवासनाभेदैरेकस्य एव वस्तुनः सहस्रधा क्रियमाणं वर्णनवैचित्र्यं नातिभिद्यते । अतएव च उत्तरचतुःशत्यादिषु—

'इच्छाशक्तिमयं पाशमंकुशंज्ञानरूपिणीम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम् ॥'

तथा—

'मनो भवेदिक्षुधनुः पाशो राग उदीरितः ।
द्वेषः स्यादङ्कुशः पञ्चतन्मात्राः पुष्पसायकाः ॥'

इति तन्त्रराजादिषु प्रतिपादितं तत्त्वोपबृंहणं मनःप्रसादफलकमेकवाक्यतयैव नेतव्यम् । योगवासिष्ठादिषु—

'सामान्यं परमं चेति द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ! ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं यत्तु मूढा उपासते ॥
परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम् ।
ब्रह्मात्मा-परमात्मादि शब्दैरेतदुदीर्यते ॥'

इत्युक्तरूपा सरणिस्तु सामान्यजनगम्या प्रचरत्येव इति किं बहूक्त्या ।

शिवे ! यत्र नेत्रायते त्रायतेऽपि
स्फुरन्नर्यमा चन्द्रमा जातवेदाः ।
तदाह्लादि कामेश्वराङ्कानुषक्तं
भवत्याः स्वरूपं ममान्तश्चकास्तु ॥७॥
तदास्तां, त्वदीयं स्वरूपं विरूपं
यदुद्भासने श्रान्तिमेत्यागमोऽपि ।

७–शिवे ! शिवस्वरूपिणि ! यत्र निसर्गसुन्दरे तव रूपे स्फुरन् अर्यमा औदयिकावस्थो रक्तवर्णः सहस्रकिरणः, चन्द्रमाः पूर्णकलः सुधांशुः, जातवेदाः प्रदीप्तो ज्वलनः । नेत्रायते नेत्रमिवाचरति आचारार्थे क्यङ् लोचनायत इत्यर्थः । त्रायते अपि, रक्षाकर्मण्यपि जागरूकम् । 'त्रैङ् पालने' कर्तरि लट् । किमियता, त्रिभिरेभिरेवाधिष्ठितं सकलमिदमाभाति भुवनतलमिति त्रयोऽप्येते विश्वस्य स्फूर्तिप्रदातारो अवन्त्यस्मान् । अतएव लघुस्तवे–

'देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ।
यत् किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं,
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्वतः ॥' इति ।

एवं तन्त्रराजादिषु त्रिकूटाविद्यायामेषां एकैककूटाधिपत्यमभिदधता मूलविद्यया सह अभेदः प्रकाशितः । तदित्थम्–

'नित्यानित्योदिते मूलाधारमध्येऽस्ति पावकः ।
सर्वेषां प्राणिनां तद्वद्धृदये च प्रभाकरः ॥
मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्राधश्चन्द्रमाश्च व्यवस्थितः ।
तत्त्रयात्मकमेव स्याद्याद्यानित्या-त्रिखण्डकम् ॥'

तत् आह्लादि पूर्णोल्लासकरं कामेश्वरस्य शिवस्य अङ्कानुषक्तं उत्सङ्गोपगूढं अर्धनारीश्वरात्मना परिणतमिति भावः । भवत्याः स्वरूपं मम चरणासक्तस्य अन्तः हृदयाकाशे चकास्तु विलसतु ।

८–त्वदीयं भवत्याः, विरूपं निर्गुणं सूक्ष्मं वा रूपं आस्तां, यथायथं तिष्ठतु तावत् । दुर्ज्ञेयतया तस्य तु प्रसङ्ग एव नायाति । यदुद्भासने यस्य विस्फारकरणे, आगमः आम्नायोऽपि, श्रान्तिं एति विश्रान्तिं भजते । वेदादयोऽपि तव निराकारायाः वर्णने विश्रान्ता इत्यर्थः । वयं तु, तत् कारुण्यामृतकोमलं महेशानुषङ्गि महेश्वरासक्तं स्फुरत् यत् सान्द्रकारुण्यं करुणोर्जितःकटाक्ष-

वयं मन्महे तन्महेशानुषङ्गि

स्फुरत्सान्द्रकारुण्यसन्दोहरङ्गि ॥८॥

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणा।

नामपारायणप्रीता सा नः पुष्णातु शाम्भवी ॥९॥

॥ इति स्वार्थाशंसनम् ॥१०॥

पातः, तस्य यः सन्दोहः चयः, तद्रूपेण रङ्गि रञ्जकम् निर्वृतिकरं वा। मन्महे मन्यामहे। 'मनु अवबोधने' कर्तरि लट्।

९-शरणागतस्य चरणशरणमापन्नस्य, दीनस्य दरिद्रस्य, आर्तस्य दुःखसंतप्तस्य च परित्राणे संरक्षणे, परायणा बद्धपरिकरा। नामपारायणेन प्रीता प्रसन्ना सा शांभवी शक्तिः नः अस्मान् संतापाकुलान् पुष्णातु पोषयतु। आगमप्रसिद्धमिदं नामपारायणं मन्त्रपारायणवत् सहस्रनामपाठवच्च कर्मनामधेयम्। तत्प्रकारस्त्वेवंरूपः-

अ आ इ ई इत्यारभ्य क्ष क्षा इत्यन्तानि सर्वाण्यपि मातृकावर्णानि भगवत्या नामधेयानि। तत्र आ ई इति शब्दशिरस्कैः अ का इ इत्यत आरभ्य अः का ई इत्यन्तम्, एवं अ खा ई, अ गा ई इत्येवं क्रमेण अः क्षा ई इत्यन्तमयं जपक्रमः प्रचलति। एवमिह अकार एकः, ककारादयः पञ्चत्रिंशदिति संकलनया षट्त्रिंशदक्षराणि भवन्ति, तानि च वर्षरूपाणि गण्यन्ते। एष्वेकैकस्य षोडशभिः स्वरैर्मेलने क्रमेण तावन्त एव मासाः। तदित्थं संभूय षट्सप्तत्युत्तराणि पञ्चशतानि प्राथमिकानि वर्णानि संपद्यन्ते। एष्वपि एकैकं प्रथमं कृत्वा द्वितीयवर्णस्थाने षट्त्रिंशतां यथाक्रमं योगः क्रियते। तदिदं पारायणम्-

'दिनतो वारतः पक्षात्, मासात्, षट् त्रिंशता दिनैः।'

इत्यादिना तन्त्रग्रन्थेषु पञ्चधाम्नायत इति संक्षेपः।

इदमेव नामपारायणम्-

'आ ई पल्लवितैः परस्परयुतैः द्वित्रिक्रमादक्षरैः
काद्यैः क्षान्तगतैः, स्वरादिभिरथ क्षान्तैश्च तैः सस्वरैः।
नामानि त्रिपुरे! भवन्ति खलु यान्यत्यन्तगुह्यानि ते
तेभ्यो भैरवपत्नि! विंशतिसहस्रेभ्यः परेभ्यो नमः॥'

इति पञ्चस्तवीश्लोकेनापि संगृहीतम्। विस्तरस्त्वन्यतो द्रष्टव्यः।

॥ इति स्वार्थाशंसनम् ॥

एकादश-स्तवः।

मूले दीपाङ्कुराकाराममग्रे पद्मानुकारिणीम् ।
किरन्तीममृतज्योत्स्नां कलये बोधसारिणीम् ॥१॥
यातायातपराक्रान्तचक्रान्तपरिवर्तिनीम् ।
गाहे ज्ञप्तिसुधासूर्तिं सिद्धिसाधनवर्तिनीम् ॥२॥
प्रत्यक्षीक्रियते यान्तरसंप्रज्ञातवर्त्मना ।

एकादश-स्तवः ।

१—मूले मूलाधारचक्रे, दीपांकुराकारां ज्योतिर्लेखास्वरूपिणीम् । अग्रे तदुत्तरभवेषु सहस्रारावधि चक्रेषु पद्मानुकारिणीम्, कमलदलाकारेण परिणमन्तीम् । अमृतज्योत्स्नां सुधामयूखान् किरन्तीं स्रावयन्तीम् । बोधसारिणीं ज्ञाननिर्भरिणीम् । कलये भावये । किञ्चिद् विशिष्य कुण्डलिनीविलासवर्णन-परोऽयं स्तवः ।

कुण्डलिनी हि मूलाधारचक्रे सार्धत्रिवलयाकारेण सुप्ता योगिभि-रुत्थाप्य षट्चक्राणि भेदयन्ती सहस्रारं नीता सती तत्कर्णिकारूपचन्द्रमण्डला-दमृतं श्रावयति । अयोगिभिरपि साधकधौरेयैः सपर्यासु भावनया सर्वाप्येषा प्रक्रिया संपाद्यत इति विशेषः । 'यतः शृङ्गाटकाकारा कुण्डलिन्युच्यते ततः ।' इत्यादिकमस्या अन्वर्थं नामनिर्वचनम् । योगवासिष्ठेऽपीयं स्मर्यते—

'पुर्यष्टकापराख्यस्य मनसो जीवनात्मिकाम् ।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥' इति ।

२—यातायाताभ्यां सुषुम्णाध्वना श्वासप्रश्वासयोः आरोहावरोहाभ्यां पराक्रान्तं व्याप्तं यच्चक्रं मूलाधाराख्यं तदन्ते तस्य मूले परिवर्तिनीम् विलासिनीम् । ज्ञप्ति र्ज्ञानं सा एव सुधा तस्याः सूर्तिं प्रसवित्रीम् । बोधसुधोल्लासिनीमित्यर्थः । सिद्धेरणिमाद्यायाः साधनस्य हेतुभूतां वर्तनीं एकपदीम् । 'सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' त्यमरः । गाहे निमज्जितो वर्ते । 'गाहू विलोडने' कर्तरि लट् ।

३—या असंप्रज्ञातवर्त्मना, असंप्रज्ञाताख्ययोगेन । समाधि र्द्विविधः—

तां व्यामृशामि विश्वेशीं दहराकाशरूपिणीम् ॥३॥
यदाज्ञया स्वस्वकृत्ये पञ्चभूतानि जाग्रति ।
तां सिद्धिपाणिग्रहणकल्याणकलशीं स्तुवे ॥४॥

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ।'
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।'
(यो० द० १. १७-१८)

ध्यानोत्कर्षमहिम्ना कर्तृकरणानुसन्धानमन्तरेणैव ध्येयमात्रगोचरतया निर्भासमानः समाधिः । स एव यथाविधि सेवितः निरस्तरजस्तमस्तोमः सत्त्वगुणस्योद्रेकात् यथोत्तरमुत्कर्षभूमिमश्नुवानः, चिरतरमासेव्यमानश्च संप्रज्ञातः । अस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधरूपो निर्बीजश्च द्वितीयः परिणमति । भवति चात्र सारसंग्राहिका पद्यद्वयी–

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥
मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
यासंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥' इति ।

अन्तः हृदयागारे, प्रत्यक्षीक्रियते अनुभवमार्गं नीयते । तां दहराकाशरूपिणीं दहरपुण्डरीकात्मना भासमानां, विश्वेशीं विश्वेषामीश्वरीम्, व्यामृशामि अन्तःपरामृशामि । दहरमहिमा छान्दोग्योपनिषदि एवं श्रूयते–

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तः, तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् ।' इति ।

स्तुतिकुसुमाञ्जलावपि भङ्ग्यन्तरेण–

'ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं
गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं
तत्सदक्षरमुपास्महे महः' ॥ इत्याद्युपश्लोकितम् ।

श्यामामपि परिस्फूर्जत्तडित्कान्तकलेवराम् ।
वन्दे त्रिविग्रहां नानाविग्रहामप्यविग्रहाम् ॥५॥
संसारसर्प-संदष्ट-स्वास्थ्यसंपादनोद्यताम् ।
उद्यत्सान्द्रदयादृष्टि-दृष्ट-भक्तकुलां श्रये ॥६॥
दुर्वासनासरिन्मग्नसमुद्धरणतत्पराम् ।
उपासे परमेशानीं स्थास्नुसौहित्यसाधनीम् ॥७॥

४–यदाज्ञया यन्निदेशमनुवर्तमानाः, पञ्चभूतानि पृथिव्यादीनि, स्वस्वकृत्ये स्वस्वव्यापारजाते जाग्रति व्याप्रियन्ते। तां सिद्धिरूपाभ्यां पाणिभ्यां ग्रहणं आदानं यस्य, एवंभूतस्य कल्याणस्य मङ्गलस्य कलशीं पयःपूरम् स्तुवे स्तौमि। 'ष्टुञ् स्तुतौ।'

५–श्यामां रजस्तमोबहुलामपि सत्त्वाश्रयां शांभवीम्, तथा च गौडपादीयं सूत्रम्–'शांभवीविद्या श्यामा' इति।

एवं देवीभागवतेऽपि–

'शांभवो शुक्लरूपा च श्रीविद्या रक्तरूपिका।
श्यामला श्यामरूपास्यादित्येता गुणशक्तयः॥' इति।

परिस्फूर्जन्ती स्पष्टमुल्लसन्ती या तडित् विद्युत् तद्वत् कान्तं मनोहरं कलेवरं वपुर्यस्याः सा ताम्। त्रिपुरसुन्दरीविग्रहामित्यर्थः। त्रिविग्रहां त्रयो विग्रहाः इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपाः यस्याः सा ताम्। नाना अनेके विग्रहाः शरीराणि यस्याः, ताम्। अनेकशक्तिव्रातरूपेणस्फुरन्तीं, जगदात्मना वा उल्लसिताम्। अविग्रहां निराकाराम्। साकार-निराकाररूपाभ्यां अनेकधा परिणमन्तीमिति परमार्थः। वन्दे प्रणतोऽस्मि। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इत्यतः कर्तरि लट्।

६–संसार एव सर्पो भुजगः, तेन संदष्टस्य कवलितस्य जन्तोः स्वास्थ्यसंपादने आरोग्यकरणे उद्यताम् सन्नद्धाम्। उद्यन्ती विकसन्ती या सान्द्रा घना दयादृष्टिः करुणोर्जितो दृक्पातः तया दृष्टं निभालितं भक्तकुलमनया ताम्। श्रये शरणं प्रपद्ये। 'श्रिञ् सेवायाम्।' कर्तरि लट्।

अन्तरूर्ध्वमधोविश्वग्विकसन्महिमाश्रयाम् ।
विद्यामविद्याहतये प्रतिपद्ये महेश्वरीम् ॥८॥
ये चैकतानमनसः समुदीरयन्ति
दुर्गाप्रसादगदितं स्तवरत्नमेतत् ।

७–दुर्वासना दुराशोत्था मृगमरीचिका, सा एव सरित् तटिनी तस्यां मग्नस्य अन्तर्निपतितस्य समुद्धरणे उद्धारकरणे तत्परां समुद्यताम् । स्थास्नु स्थिरस्वभावं शाश्वतं वा 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ'इत्यतः 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (पा०सू०३.२.१३९) इति ताच्छील्ये ग्स्नुः । यत् सौहित्यं तृप्तिः तस्य साधनीं साधनरूपाम् । परमेशानीं परब्रह्ममहिषीं उपासे भजे ।उपोपसृष्टात् आस् धातोः कर्तरि लट् ।

८–अन्तः ब्रह्माण्डगर्भे, ऊर्ध्वं उपरिभागे, अधः अधोभागे, विष्वक् सर्वतः विकसन् विजृम्भमाणः यो महिमा तस्य आश्रया आधारभूता, ताम् । विद्यां षोडशमातृकां । विद्यान्तःपातिनां अकारादिक्षकारान्तानां वर्णानां शुक्लादिरूपाण्यपि आगमेष्वाम्नातानि । तथा च सनत्कुमारसंहितायाम्–

'अकाराद्याः स्वरा धूम्रा सिन्दूराभास्तु कादयः ।
डादिफान्ता गौरवर्णा अरुणाः पञ्चबादयः ॥
लकाराद्याः काञ्चनाभा हकारान्तौ तडिन्निभौ ।' इति ।

मातृकाविवेके तु–

'अकारं सर्वदेवत्यं रक्तं सर्ववशंकरम् ।'

इत्यादिना प्रत्यक्षरं वर्णविशेषोऽप्युक्तः ।

अविद्याहतये अविद्या अनित्येषु नित्यत्वाभिमानः अनात्मनि देहेन्द्रियादौ च आत्मबुद्धिरित्येवं वासनाप्रतानः, तस्याः हतये समूलघातं निवृत्तये महेश्वरीं स्फारैश्वर्यशालिनीं प्रतिपद्ये प्रपन्नोऽस्मि । प्रपूर्वात् पद्यतेः कर्तरि लट् ।

९–ये जनाः एकतानमनसः अनन्यवृत्तिकाः सन्तः, एतत् प्रकृतं दुर्गायाः परमेश्वर्याः प्रसादेन अनुग्रहभरेण अभिहितं गदितं 'त्वदीयाभि र्वाग्भि स्तव जननि !

तेऽन्तःप्रमादमवहत्य समूलघातं
दुर्गा-प्रसादनकृते प्रगुणीभवन्ति ॥६॥

॥ इत्यन्तर्विमर्शः ॥११॥

द्वादश-स्तवः ।

शोधय मानससरणिं, बोधय विज्ञानकोरकाण्यभितः ।
साधय सकलमनोरथमपारकरुणानिधे ! मातः ! ॥१॥
जननि ! यदि त्वमुपेक्षामस्मद्वीक्षाकृते समाश्रयसे ।
आदिश कुमुदविकाशे धन्या चन्द्रद्युतेः कान्या ॥२॥

वाचां स्तुतिरियम् ।' इत्येवमादि निदर्शनात् । एवं पुष्पाञ्जलिसमर्पकेन एतन्नाम्ना प्रसिद्धेन कविना गदितमित्येवंरूपोऽर्थोऽपि यथायथमनुसन्धेयः । स्तवरत्नं स्तवेषु रत्नायमाणमिदं समुदीरयन्ति भक्त्या अभिष्टुवन्ति, ते समूलघातं पञ्चविधक्लेशानां मूलोच्छेदपुरस्सरम् । समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः (पा० सू० ३.४.३६.) इति णमुल् । अन्तःप्रमादं चित्तविक्षेपसहभुवां अन्तर्वर्तिनीं अनवधानतां अवहत्य उच्छिद्य दुर्गायाः स्वनामधन्यायाः जगन्मातुः यत् प्रसादनं स्फारं हृदयावर्जनं तस्य कृते प्रगुणीभवन्ति अतितरां सामर्थ्यभाजो भवन्ति । वसन्ततिलका-वृत्तम् ।

द्वादश-स्तवः ।

१—मानससरणिं मनोरूपां पद्यां शोधय विमलां विधेहि । अभितः समन्ततः, विज्ञानकोरकाणि विज्ञानरूपाः कलिकाः बोधय विकासय । हे अपारकरुणानिधे ! निरवधिकारुण्यनिधाने ! सकलं मनोरथं सर्वविधां मनोऽभिलाषां साधय संपादय । आर्यावृत्तम् ।

२—हे जननि ! अस्मद्वीक्षाकृते अस्माकं स्नेहेक्षणव्यापारे यदि त्वं उपेक्षां समाश्रयसे, उपेक्षाभावं औदासीन्यं वा भजसे तर्हि आदिश कथय कुमुदविकाशे कह्लारोदये चन्द्रद्युतेः ज्योत्स्नायाः, अन्या अपरा का धन्या उपकाररूपस्य श्रेयसो भाजनीभूता ।

साधुर्वाऽसाधुर्वा यौष्माकत्वेन विश्रुतो जगति ।
मातरुपेक्षायोगे कथय कथं जीवनं घटते ॥३॥
इदमर्थये त्ववश्यं कर्मकलाप्रसरबाध्यमानोऽपि ।
जन्मनि जन्मनि भवतीं, न विस्मरामि स्मराम्येव ॥४॥
प्रतिफलतु चित्तफलके भवती भवतीव्रवासनाशमनी ।
शमनप्रशमनसरणी शरणीभूता प्रपञ्चस्य ॥५॥
उद्धृतमानसशल्यां, स्फूर्जत्कल्याणकल्पनाकल्याम् ।
भक्ताय साधुवल्लीं कलये ललितां स्फुरन्माल्याम् ॥६॥

३–साधुः शिष्टः, असाधुरशिष्टो वा, यौष्माकत्वेन त्वदीयत्वेन जगति इह संसारे, विश्रुतोऽस्मि विख्यातो वर्ते । हे मातः ! उपेक्षायोगे अवज्ञाप्रसङ्गे जीवनं प्राणनमेव कथं केन रूपेण घटते संभविष्यति । भविष्यदर्थे लट् । इति कथय वाचं देहि ।

४–इदम् वक्ष्यमाणं, अवश्यं नूनं अर्थये अभ्यर्थये, यत् कर्मणः लोकवृत्तस्य प्रपञ्चैकजन्मनः व्यापारजातस्य, या कला नवनवो उदयः, तस्य प्रसरेण आधिक्येन बाध्यमानः अनन्यगतिकत्वेन न्यग्भावं नीयमानः, जन्मनि जन्मनि भवे भवे संसरणदशामधिशयानोऽपि भवतीं त्वाम् स्मराम्येव सोत्कण्ठं अन्तर्विमृशामि, न विस्मरामि त्वद्विमुखो न भवामि ।

५–चित्तफलके चित्तादर्शे, भवस्य जगतः याः तीव्रवासनाः उद्दामव्यापारजन्मानो मनोरथाः तासां शमनी विश्रान्तिदायिनी भवती प्रतिफलतु प्रतिबिम्बतु । शमनप्रशमनस्य शमनो यमः तस्य प्रशमनस्य अभिभवस्य सरणी प्रवाहः । प्रपञ्चस्य विश्वोत्थस्य शरणीभूता आश्रयत्वमापन्ना ।

६–उद्धृतं उत्क्षिप्तं मानसस्य चित्तस्यशल्यं दुस्सहत्वेन दुःखरूप कीलकं अनया ताम् ।स्फूर्जत् यत्कल्याणं निःश्रेयसं तस्य या कल्पना रचनापारम्परी, तत्र कल्या निपुणा ताम् । भक्ताय उपासकाय नतु वैषयिकप्रवाहपतिताय, साधुवल्लीं कल्पभूरुहव्रततीम् । स्फुरत् दीव्यत् माल्यं दाम यस्याः सा, ताम् । ललितां महात्रिपुरसुन्दरीं कलये चिन्तये ।

कमले भास्करभामिव कुमुदे चान्द्रीमिवामलां भासम् ।
भवने दीपशिखामिव, चेतसि भान्तीं समीहे त्वाम् ॥७॥

बन्धूकबन्धुराङ्गी, विलसत्कारुण्यसुन्दरापाङ्गी ।
भास्वद्भूषणभङ्गी, मानससङ्गीकृते भूयात् ॥८॥

याविग्रहापि सर्वत्र पञ्चायतनविग्रहा ।
यजतां स्मरतां सास्तु, भोगस्वर्गापवर्गदा ॥९॥

॥ इत्यार्याभ्यर्चना ॥१२॥

७–कमले पद्मे भास्करस्य भामिव अर्कस्य दीधितिमिव, कुमुदे कुमुद्वत्यां, अमलां निर्मलां, चान्द्रीं ऐन्दवीं भासं ज्योत्स्नामिव । भवने वासगृहे दीपशिखामिव दीपज्योतिरिव त्वां चेतसि भान्तीं चकासन्तीं समीहे अभिलषामि ।

८–बन्धूकवत् बन्धूकपुष्पारुणिमेव बन्धुरं सुन्दरं अङ्गम् यस्याः सा । बन्धूकः बन्धुजीवकनामा बङ्गदेशप्रसिद्धो महावृक्षः । विलसत् विशेषेण भासमानं यत् कारुण्यं करुणोदयः तेन सुन्दरे रुचिरे अपाङ्गे नेत्रप्रान्ते यस्याः सा । भास्वद्भूषणानां द्युतिमतां अलङ्काराणां भङ्गी रचनाविशेषपात्रीभूता । मानसस्य एकाकिनो मनसः सङ्गीकृते सहवासाय भूयात् ।

९–या सर्वत्र अविग्रहा अपि अशरीरा अपि पञ्चानां आयतनं पञ्चदेवतात्मकं विग्रहः शरीरं यस्याः सा । इह पञ्चायतने भगवत्या एव प्राधान्यात् इतरेषां च गुणीभावात् पञ्चायतनविग्रहत्वमस्या इति द्रष्टव्यम् । उपासनाक्रमे सगुणब्रह्मपञ्चधारासु 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (यो० द० १. ३९) इति नीत्या अन्यतमायाः प्राधान्यमास्थीयते । तथा च पञ्चायतनीमुद्दिश्य गणेशविमर्शिन्याम्–

'शम्भौ मध्यगते हरीनहरभूदेव्यो, हरौ शंकरे-
भास्येनागसुता रवौ हरगणेशाजाम्बिकाः स्थापिताः ।
देव्यां विष्णुहरैकदन्तरवयो लम्बोदरेऽजेश्वरे-
नार्याः शंकरभागतोऽतिसुखदा व्यस्तास्तु ते हानिदाः ॥' इति ।

सा यजतां अन्तर्याग-बहिर्यागवताम् । स्मरतां नामपारायणादिकेन स्मरणं कुर्वताम् । भोगः ऐहलौकिकः नवनवोपभुज्यमानः श्रियोल्लासः, स्वर्गः स्वर्लोकसुखं, अपवर्गः कैवल्यं च, तान् ददाति इति तथाभूता अस्तु ।

॥ इत्यार्याभ्यर्चना ॥

त्रयोदश-स्तवः ।

अयं दाता तुष्येदयमपि धरित्रीपरिवृढः
प्रसीदेदित्याशा जगति बहु तावद् भ्रमयति ।
शिवे ! यावद्युष्मच्चरणयुगले नम्रकमले
व्यपेतान्यासक्तिर्नहि भवति भक्तिः शिखरिणी ॥१॥
दिवा तत्तत्कार्यव्यतिकरपरीतेन मनसा
निशायामप्यारान्मुहुरुपचितस्वप्नमहसा ।
पराक्रान्तो दूये जननि ! जगतामेकशरणे !
कथं वीक्षोपेक्षासरणिमनुसर्तुं प्रभवसि ॥२॥

त्रयोदश-स्तवः ।

१-अयं अमुकनामा दाता दानकर्ता तुष्येत् संतुष्टो भवेत्। अयं एषः, धरित्री-परिवृढः भूभर्ता अपि 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः ।' इत्यमरः । प्रसीदेत् प्रसन्नो भवेत् । प्रपूर्वकात् 'षद्लृ' धातोः लिङ् । इति एवंरूपा आशा तृष्णामरीचिका, तावत् बहु अतिमात्रम्, भ्रमयति गृहाद् गृहं संचारयति । हे शिवे ! कल्याणिनि ! यावत् भवत्याः नम्रकमले कमलादपि कोमले चरणयुगले । व्यपेतः निर्गतः अन्यस्मिन् आसक्तिरूपः प्रणयो यस्याः सेति भक्तेर्विशेषणम् । शिखरिणी शैलशृङ्ग इवोन्नतस्वभावा न भवति । शिखरिणीपदमिह श्लिष्ट द्रष्टव्यम् । तेन प्रकृतस्तवे शिखरिणीछन्द इत्यपि सूचितम् ।

२-दिवा प्रातरारभ्य दिनावसानम् यावत्, तत्तत्कार्याणां अवश्यकर्तव्यतया प्रत्यहमुपस्थितानां, यो व्यतिकरः सम्बन्धः, तत्र परीतेन परिवेष्टितेन मनसा । निशायां रजन्याम् आरान् समीपतो दूरतश्च, 'आराद् दूरसमीपयोः इत्यमरः ।' मुहुः उपचितं वृद्धिं गतं यत् स्वप्नरूपं महः तेजोरूपं चाकचक्यं तेन । पराक्रान्तः परितोऽभिभूतः दूये परितापं सहे । 'दूङ् परितापे' इति दैवादिकात् कर्तरि लट् । हे जगतामेकशरणे ! एकावलम्बभूते ! वीक्षायाः स्नेहदृष्टेः, या उपेक्षा औदासीन्यं, तस्याः सरणिं मार्गं, कथं केन रूपेण, अनुसर्तुं अनुगन्तुं प्रभवसि शक्नोसि ।

बहु भ्रान्तं मातर्दिशि दिशि दुराशाहतधिया
परां काष्ठां नीतं मलिनमपि भूपालचरितम् ।
इतिप्रायैः कृत्यैः परिकलितकाये मयि दया-
सुधाधारासारैः शिशिरितदृशं पातय मनाक् ।३॥

परित्यक्तो मित्रैरपि बहु विचित्रैरहरहः
कथैवान्येषां का प्रतिपदनिजार्थार्पितधियाम् ।
दुराधिव्याधिभ्यां व्यथित इह वर्ते त्रिजगतां
शरण्ये ! कर्णे किं गमयसि न मे क्रन्दितमिदम् ॥४॥

३–हे मातः ! दिशि दिशि प्रतिदिशं वीप्सायां द्विर्भावः । दुराशया मरुमरीचिसन्निभया हता कुण्ठिता धी र्यस्य सः तेन । बहु यथास्यात्तथा भ्रान्तं चङ्क्रमितम् । मलिनं अपि परिवादगन्धैः कलुषितं अपि, भूपालानां लक्ष्मीदुर्ललितानां राज्ञां, चरितं उच्चावचं विलसितं, परां काष्ठां चाटुकारितादिभिः अतिरञ्जितामवस्थां नीतं प्रापितम । आशाग्रहग्रस्तैः मर्यादामतिलङ्घ्य असदपि सदिव ख्यापितमिति भावः । इतिप्रायैः एवमादिभिः कृत्यैः करणचेष्टितैः परिकलितं अहरहः अतिवाहितं क्षपितं वा कायं देहो यस्य सः, तस्मिन् । मयि दयनीये, दयैव सुधा तस्याः धारासारैः धारासंपातैः । शिशिरिता चासौ दृक् च शिशिरितदृक् ताम्, शीतलां दृष्टिं मनाक् ईषत्, पातय संघटय ।

४–अहरहः दिने दिने, बहु विचित्रैः उच्चावचैर्विचित्रस्वभावैः मित्रैः मित्रतया जगति विश्रुतैः, परित्यक्तः सर्वथोपेक्षितः । प्रतिपदं पदे पदे निजार्थे स्वार्थसन्धानफले समर्पिता समासक्ता धीर्धिषणा येषां तेषाम् । अन्येषां गजनिमीलिकया पश्यतां संसारिणां तु कथा एव का ? तेषां वार्तैव नोदेति । हे त्रिजगतां एकशरणे ! एकावलम्बभूते ! शरण्ये ! शरणागतपरायणे !दुराधयः दुःसहा मानसोत्थाः संतापाः, व्याधयः शरीरोपमर्दिन्यो रोगवेदनाः, ताभ्यां व्यथितः अन्तःसंतप्तः, इह संसारे वर्ते तिष्ठामि । मे मम अशरणस्य क्रन्दितं विलपितं कर्णे किं न गमयसि न शृणोषि ।

धृताप्युच्चैर्वाणी व्रजति बहुधा संशयपथं
कथं तिष्ठेत् पद्मा कमलशितनालक्षतपदा।
इदानीं कारुण्यं जननि ! यदि चित्ते न कुरुषे
तदार्तिव्यस्तस्य प्रकथय कथंकारमवनम् ॥५॥

त्वयाचार्याकृत्या कथितमपि पथ्यं न कलितं
न तथ्यं त्वत्सेवासरणिषु ममाद्यापि करणम्।
अहो ध्यातुं वाञ्छन्नपि चटुलचित्तेन भुवनं
विहर्तुं जंघालः कथमिव भजाम्यम्ब ! भवतीम् ॥६॥

न सक्तिस्त्वत्पूजाविधिषु न च भक्तिस्तव पदे
क्व वा शक्तिर्ध्याने भवतु तरलानामविषये।

५—उच्चैः उदात्तहृदयेन धृता वशीकृता अपि वाणी बहुधा नानाभङ्ग्या संशयपथं व्रजति सन्देहमङ्कुरयति। कमलस्य यत् शितं तीक्ष्णं कण्टकितं वा नालः, तेन क्षते विक्षते पदे चरणे यस्याः सा। एवंभूता कमला कथं कथङ्कारं तिष्ठेत् स्थातुं प्रभवेत्। हे जननि ! इदानीं अस्मिन्नपि समये यदि चित्ते कारुण्यं दयाभावं न कुरुषे नोन्मीलयसि तदा आर्तिव्यस्तस्य पीडाविधुरस्य, कथंकारं केन रूपेण अवनं रक्षणं भवेदिति प्रकथय आज्ञापय।

६—त्वया भवत्या आचार्याकृत्या गुरुमूर्त्या कथितं आदिष्टं पथ्यं हितोपदेशः न कलितं मनसि न कृतम्। त्वत्सेवासरणिषु त्वदाराधनमार्गेषु मम करणं इन्द्रियवर्गः, अद्यापि अधुनापि, न तथ्यं न सम्यक् प्रवृत्तम्। अहो! चटुलचित्तेन चञ्चलेन मनसा ध्यातुं एकतानः सन् त्वन्मयो भवितुम्, वाञ्छन्नपि अभिलपन्नपि भुवनं संसारं विहर्तुं जङ्घाल इव, जङ्घा वेगवती अस्ति अस्येति लच्। जङ्घाजीवको धावक इव, अम्ब ! भवतीं त्वां, कथं केन प्रकारेण भजामि आराधयामि।

७—त्वत्पूजाविधिषु सपर्यासरणिषु न सक्तिः न प्रसक्तिः, न च तव पदे भक्तिः, न वा त्वदीयचरणे अनुरागः। अविषये विषयातिक्रान्ते वस्तुनि ध्याने तदेकतानतारूपे तरलानां चलचित्तानां शक्तिः सामर्थ्यं क्व वा भवतु कथमिव संघटताम्।

इति क्लेशक्लिष्टे मयि यदि न ते मातरधुना
दयायोगो योगो भवति जनुषो निष्फल इह ॥७॥
सुधाधाराकारां मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मये! मातस्त्वत्तो गतिरिह ममान्या न भुवने ।
प्रसूपार्श्वं त्यक्त्वा कथय कथमन्यं शिशुरिया-
द्दया वा दण्डो वा भवतु पुनरौदास्यमतुले ॥८॥
संसारपङ्कनिर्मग्नसमुद्धरणपण्डिता ।
मण्डिता सकलैश्वर्यैः सा परा संप्रसीदतु ॥९॥
॥ इत्यवस्था-निवेदनम् ॥१३॥

इति क्लेशैः अविद्यास्मितादिभिः पञ्चविधैः, क्लिष्टे व्याकुलिते मयि मद्विषये, हे मातः ! यदि ते अधुना दयायोगः करुणाप्रसरो न जायते, तदा जनुषः पञ्चभूत-पिण्डस्यास्य देहस्य योगः उत्पत्तिः, इह संसारे निष्फल एव निरर्थक एव ।

८—मयि सुधाधाराकारां पीयूषसारसरसां, सकरुणां कृपापरीतां, दृष्टिं दृष्टिपातं वितर ददस्व । अये इति विषादे अव्ययम् । मातः ! इह भुवने अस्मिन् जगति त्वत्तः अन्या अपरा काचन मम गतिः गन्तव्यस्थानं न संभवति । शिशुर्बालः प्रसूपार्श्वं मातुरुत्सङ्गं त्यक्त्वा विहाय अन्यं अपरं कथं इयात् यायात् । 'इण् गतौ' इत्यतः संभावनायां लिङ् । इति त्वमेव कथय अभिधेहि । हे अतुले ! निरुपमे ! दया करुणा दण्डः ताडनादिकम् वा, औदास्यं तटस्थभावो वा भवतु जायताम् ।

९—संसाररूपं यत् पङ्कं कर्दमम् तत्र निमग्नानां निःशेषेण मग्नानाम् अतएव कूर्मपुराणे—

'ये मनागपि शर्वाणीं स्मरन्ति शरणार्थिनः ।
दुस्तरापारसंसारसागरे न पतन्ति ते ॥' इति ।

समुद्धरणे सम्यगुद्धारकरणे पण्डिता कुशला, सकलैः समस्तैः ऐश्वर्यैः विभूतिभिः, मण्डिता विभूषिता, सा परा कुलकुण्डाधिवासिनी त्रिपुरसुन्दरीति प्रसिद्धा संप्रसीदतु प्रसादसुमुखी भवतु ।

॥ इत्यवस्था-निवेदनम् ॥

चतुर्दश-स्तवः ।

अपारकारुण्यसुधासमुद्र–रिङ्गत्तरङ्गावलिलीनचेताः ।
वन्दारुवृन्दार्थितकल्पवल्लि ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥१॥
असीमसारल्यलताप्रतान-विजृम्भणोद्यानविशालसीमा ।
निःशेषभक्तार्तिविनाशशीले ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥२॥
उदारचारित्रविकाशगन्ध-सञ्चारणाडम्बररोदसीका ।
हृद्यावदानोत्करभासमाने ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥३॥

चतुर्दश-स्तवः ।

१–अपारं अपरिमेयं यत् कारुण्यं, तदेव सुधासमुद्रः सुधासागरः, तत्र रिङ्गन्तीषु शनैरुपसर्पन्तीषु तरङ्गाणां ऊर्मीणां आवलिषु पङ्क्तिषु लीनं निमग्नं चेतो मानसं यस्याः सा, तथाभूता । वन्दारवः वन्दनशीलाः 'शृवन्द्योरारुः (पा० सू० ३.२ १७३) इति आरुप्रत्ययः । तेषां वृन्देन सङ्घेन अर्थिता अभ्यर्थिता कल्पवल्ली पारिजातव्रतती तत्संबुद्धिः । दुर्गाप्रसादस्य पुष्पाञ्जलिनिवेदयितुः त्वं भवती एका अनन्या गतिः शरणीभूता । असि इत्यध्याहार्यम् । वंशस्थेन्द्रवंशयोरुपजातिः ।

२–असीमं सीमामतिक्रान्तं यत् सारल्यं औदार्यं तदेव लताप्रतानः वल्लीविस्तारः तस्य विजृम्भणाय विकाशाय यदुद्यानं उपवनम् तस्य विशाला महती सीमा पर्यन्तभूमिः । निःशेषाः समस्ताः याः भक्तानां सेवासक्तानां आर्त्तयः दुःखपरम्पराः, तासां विनाशः समुच्छेदकरणमेव शीलं स्वभावो यस्याः तत्सम्बुद्धिः । चतुर्थश्चरणः पूर्ववदेव सर्वत्र व्याख्येयः ।

३–उदारं सरलं यत् चारित्रं चरितम् । स्वार्थे अण् । तस्य यो विकाशगन्धः उत्फुल्लतया संसर्पन् सुरभिः, तस्य सञ्चारणे सर्वतः प्रसारणे य आडम्बरः संरम्भः, स रोदसीकः भुवो गगनान्तं व्याप्तः यस्याः सा । हृद्यं मनोज्ञं यत् अवदानं पराक्रमः तस्य उत्करेण राशीभूतेन भासमाने ! विद्योतमाने ! । शेषं प्राग्वदेव योजनीयम् ।

संसारदावानलदीनभक्तप्रसादनैकामृतपूरपूर्तिः ।
उपासकप्रीणनबद्धकक्षे ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥४॥
दौर्भाग्यतूलज्वलनायमानसहस्रनामश्रवणार्द्रचित्ता ।
निसर्गसौभाग्यविसर्गनिष्ठे ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥५॥
क्लिश्यत्कवित्वव्रततीवितानप्रकाशनानभ्रनभस्यवृष्टिः ।
समुच्छलद्भक्तिविशेषतुष्टे ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥६॥
दृक्पातमात्रार्पितसाध्यसिद्धिनिषेवणानन्दितसाधकेन्द्रा ।
वदान्यसीमायितचित्तवृत्ते ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥७॥

४–संसार एव दावानलः दवदहनः, तत्र ये दीनाः दयनीयाः भवताः कृपा-काङ्क्षिणः, तेषां प्रसादनाय प्रसन्नतायै एका अमृतपूरस्य पीयूषप्रवाहस्य पूर्तिः पूरणी । 'पृ पालनपूरणयोः'इति क्तिन् । उपासकानां सपर्यापरायणानां प्रीणनाय संतोषाय बद्धः दृढीकृतः कक्षः अंचलमनया तत्संबुद्धिः । अन्यत्पूर्ववत् ।

५–दौर्भाग्यं दुरदृष्टं, तदेव तूलः कार्पासः तस्मिन् ज्वलनायमानस्य अग्नि-साद्भवतः सहस्रनाम्नाम्–

'श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी ।
चिदग्निकुण्डसंभूता देवकार्यसमुद्यता ।।'

इत्यादिरूपाणां श्रवणेन आर्द्रं क्लिन्नं चित्तं मनो यस्याः सा । निसर्गे अकृत्रिमं यत् सौभाग्यं सौभगं, तस्य विसर्गे वितरणे निष्टा व्रतं यस्याः सेति संबुद्धिः । शेषं स्पष्टम् ।

६-क्लिश्यन्ती म्लानिमानं भजन्ती, कवित्वस्य कविकर्मजीवातुः, शक्तिः सामर्थ्यं सा एव व्रतती, तस्याः यो वितानः स्वैरोल्लासः, तस्य प्रकाशने जीवनदाने अनभ्रा निर्मेघा नभस्यस्य भाद्रपदमासस्य 'स्युर्नभस्यप्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदाःसमाः ।' इत्यमरः । वृष्टिः धाराप्रवाहो जलप्रपातः । समुच्छलत् समुद्रिक्तो भावभरितश्च यो भक्तिविशेषः, अनुरागातिशयः तेन तुष्टा प्रसन्ना । शेषं प्राग्वत् ।

७–दृशोः पातः दृक्पातः, दृष्टिसमर्पणम् । तन्मात्रेणैव तावतैव अर्पिता प्रसादी-कृता, साध्यस्य चिकीर्षितस्य, या सिद्धिः साफल्यं, तस्याः निषेवणेन आचरणेन आनन्दितः प्रमोदमानीतः साधकेन्द्रः साधकसत्तमः अनया । वदान्यः बहुप्रदः, तस्य सीमायिता सीमाभूता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्याः सा तत्संबुद्धिः ।

पद्मासनोपेन्द्रमहेन्द्रमौलिमन्दारमालाङ्कितपादपीठा ।
मातः ! शिशूक्तिश्रवणस्वभावे ! दुर्गाप्रसादस्य गतिस्त्वमेका ॥८॥

सेवासक्तसुरासुरावलिशिरोमाल्यान्तरालस्खल-
द्धूलीधूसरपादपीठविलुठत्सौभाग्यसीमायिते ! ।
निर्व्याजस्थिरभक्तियोगसुलभे ! मातस्तवाराधने
चेतो मेऽनिशमुद्गताधिकरसं वैपुल्यमालम्बताम् ॥९॥

॥ इत्यात्मार्पणम् ॥१४॥

८-पद्मासनः परमेष्ठी, उपेन्द्रो विष्णुः, महेन्द्रः शंकरः, तेषां मौलौ मूर्ध्नि-संश्लिष्टे किरीटे या मन्दारस्य माला पारिजातस्रक् तया अङ्कितं चिह्नितं पादपीठं पादस्थापनासनं यस्याः सा । हे मातः ! शिशोक्तेः सुलभस्खलितस्य बालभाषितस्य श्रवणस्वभावः श्रवणे अभिरुचिर्यस्याः, तत्संबोधनम् । शेषं प्राग्वत् ।

९-सेवासक्तानां सेवापरायणानां, सुरासुराणां देवानां दानवानां च या आवलिः श्रेणी तच्छिरसि मूर्ध्नि, यत् माल्यं पुष्पदाम, तदन्तरालात् तन्मध्यात्, स्खलन्ती विकिरन्ती, या धूली रजःकणिका, तया धूसरं किंचित् पाण्डुरतां गतं यत् पादपीठं चरणाधारः, तत्र विलुठत् समन्ततो लुलन् यत् सौभाग्यं सुभगत्वं तस्य सीमायिते सीमामुपेते ! निर्व्याजा अकृत्रिमा निर्दम्भा च या स्थिरा भक्तिः दृढोऽनुरागः, तस्याः योगेन संयोगेन सुलभे ! सुप्रापे ! तवाराधने तवोपासने, हे मातः ! मे चेतः स्वान्तं अनिशं नक्तंदिवं उद्गतः उत्पन्नः, अधिकः आशातीतः, रसो रागः यस्मिन् तदिति क्रियाविशेषणम् । वैपुल्यं प्राशस्त्यं, आलम्बतां समाश्रीयताम् । 'लबि अवस्रंसने' इति भौवादिकात् प्रार्थनायां लोट् । शार्दूल-विक्रीडितं छन्दः ।

॥ इत्यात्मार्पणम् ॥

इति दुर्गापुष्पाञ्जलौ प्रथमो विश्रामः ।

दुर्गा-प्रसादाष्टकम्।

वन्दे निर्बाधकरुणामरुणां शरणावनीम्।
कामपूर्णजकाराद्यश्रीपीठान्तर्निवासिनीम् ॥१॥

१–निर्बाधा स्वतन्त्रप्रसरा करुणा दयादाक्षिण्यं यस्यां सा तथाभूता, ताम्। करुणाघनामिति भावः। अरुणां लोहितवर्णाम्। 'जयति करुणा काचिदरुणा' इत्यादि प्राचीनस्तवः। इह स्वात्मन एव त्रिपुरारूपत्वमित्यागमसिद्धान्तः। तच्च विमृश्यमानं स्वात्मनि अनुरागरूपमेव पर्यवस्यति इति तेजस्तन्तुरूपात्मना परिणमन्त्याः शक्तिचक्रैकनायिकाया अस्या अरुणत्वं स्वसंवेदनसिद्धम्। एत-दुद्दिश्यैव तन्त्रराजे–

'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना ॥'

इत्येवमादि सविस्तरं निरूप्यते। शरणस्य लोकयात्राप्रपञ्चायमाणस्य रक्षणव्यापारस्य अवनीं विश्रान्तिधामतया एकावलम्बभूताम्। सृष्टि-स्थिति-लय-कारिण्यः ब्रह्मादिरूपास्तिस्रः शक्तयः, तत्समष्टिरेका इत्येवं वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिकेति नाम्ना प्रसिद्धाश्चतस्रः शक्तयः सन्ति। तासामधिष्ठानभूताः कामरूपं पूर्णगिरिः, जालन्धरं, ओड्यानञ्चेति चत्वारः प्रधानाः शक्तिपीठाः। चत्वारोऽप्येते आन्तरोपास्तिषु प्राधान्यमापन्नाः यथाक्रमं मूलाधारानाहतविशुद्ध्याज्ञात्मना प्रथितेषु चक्रपदाभिलप्येषु देवीरूपत्वेन विभाव्यन्त इति संक्षेपः। तत एव उत्तरचतुःशतीशास्त्रे–

'वासनाद्विश्वरूपस्य स्वरूपे वाह्यतोऽपि च।
एताश्चतस्रः शक्तयस्तु का पू जा ओ इति क्रमात् ॥'

इत्यादिकमाद्याक्षरसंकेतेन प्रतिपाद्यते। तदनुरूपमिहापि स्तवे आद्ययोः काम-गिरिपूर्णगिरिपीठयोः 'नामैकदेशे नामग्रहणमिति' न्यायेन निर्देशः। जकार आद्यो यस्येति समानाधिकरणो बहुव्रीहिः। श्रीपीठशब्देनोड्यानं परामृश्यते। 'पञ्चा-शत्पीठरूपिणी' इति ललितानामसु पठ्यते। तत्र पञ्चाशच्छब्दो लक्षणया एक-पञ्चाशत्परो द्रष्टव्यः। अन्तर्निवासिनीम् तदधिष्ठातृरूपेण अन्तःस्थिताम्। वन्दे स्तुवे अभिवादये च। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः'। वन्दनं हि तदनुप्रवेश इति सिद्धान्तात् सर्वथा तादात्म्येन तामनुप्रविशामीत्यन्ता अर्थाभिव्यक्तिरिह कवे-रभिप्रेता यथायथमनुसन्धातव्या।

प्रसिद्धां परमेशानीं नानातनुषु जाग्रतीम् ।

२-प्रसिद्धां पण्डितादिपामरान्तलोकैः अहमिति वेद्यतयानुभूयमानाम् । अकारादि हकारान्तमातृकास्वरूपेण अहमिति स्फुरणात्मिकामित्याशयः । तदुक्तं त्रिरूपात्तपञ्चाशिकायाम्-

'स्वपरावभासनक्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ ।
अहमिति स एव उक्तोऽहंतास्थितिरीदृशी तस्य ॥'

अमुमेवार्थं 'मातृकाचक्रसंबोध' इति शिवसूत्रे वरदराजाचार्योऽप्युक्तवान्-

'अतोऽकारहकाराभ्यामहमित्यपृथक्तया ।
प्रपञ्चं शिवशक्तिभ्यां क्रोडीकृत्य प्रकाशते ॥'

अन्यत्राप्युच्यते-

'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ॥' इति ।

परमा उत्कृष्टा च सा ईशानी स्वामिनी च ताम् । परमैश्वर्यशालिनीमित्यर्थः । नानातनुषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तासु जडाजडात्मिकासु सृष्टिव्यक्तिषु । जाग्रतीं प्रबुद्धां, चैतन्यात्मना स्फुरन्तीमिति भावः । 'जागृ निद्राक्षये' । शत्रन्तान्ङीप् । 'नाभ्यस्ताच्छतु' रिति नुमः प्रतिषेधः । अद्वयस्य परस्परं सामरस्यमापन्नस्य निरुपाधिकस्य शिवशक्तिरूपस्य, यः आनन्दसंदोहः निरर्गलो आनन्दोल्लासभरः, तस्य मालिनीं पञ्चाशद्वर्णमातृकाभिमानिदेवतास्वरूपिणीम् । ब्रीह्यादिपाठादिनिः । यथोक्तमागमरहस्ये-

'अकारादिक्षकारान्ता पञ्चाशद्वर्णमातृका ।
पृथग् वर्णाः शशिधराः पञ्चाशद्बीजसंज्ञकाः ॥
मालिनी सैव विख्याता सर्वमंत्रस्वरूपिणी ।' इति ।

सृष्टिकारणतयाभ्युपगम्यमाने शिवशक्तिरूपे ब्रह्मणि अर्थत्ववच्छब्दत्वमपि प्रतितिष्ठतीति चतुरस्रम् । अङ्कुरतच्छाययोरिव परस्परसंपृक्तयोरेव शब्दार्थसृष्ट्योः प्रादुर्भावावगमात् । तत एव 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादिकमप्युपपद्यते । वाक्यपदीये भगवद्भर्तृहरिणाप्युक्तम्-

अद्वयानन्दसंदोहमालिनीं श्रेयसे श्रये ॥२॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ प्रतिव्यक्ति विलक्षणाम् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

अथवा मालिनीपद[1]मिह मायाबीजपरं द्रष्टव्यम् । तथाच मायाबीजस्वरूपिणीमित्यर्थोऽपीह कण्ठरवेणोपात्तः । 'ह्रींकार उभयात्मकः' इत्यादि ब्रह्माण्डपुराणोक्त्या मायाबीजेन मिथः समरसापन्नस्य शिवशक्त्युभयात्मनः ब्रह्मण एव प्रतिपादनात् । किंच मालिनीपदस्य गौरीरूपोऽर्थोऽपि यथासंभवं उत्प्रेक्षितुं शक्यः । तथा च विश्वः-

'मालिनी वृत्तभेदे स्यान्मालाकारस्त्रियामपि ।
चम्पानगर्यां गौर्यां च मन्दाकिन्यां च मालिनी ॥' इति ।

श्रेयसे श्रेयःफलावाप्तये श्रये शरणं प्रपद्ये ।

३-जाग्रदादयः कालक्रमानुप्राणिता अवस्थाविशेषाः । तत्र च सर्वसाधारण्येन अर्थं विषयीकृत्य बाह्यान्तरोभयविधं इन्द्रियजन्यं ज्ञानं लोकस्य जाग्रदवस्थेति व्यपदिश्यते । अन्तःकरणमात्रहेतुः असाधारणार्थनिर्माणप्रकृति विकल्प एव स्वप्नावस्थेत्युच्यते । सर्वाकारेण अर्थस्फुरणशून्यता च सुषुप्तिरभिधीयते । तदित्थं एकस्यैव वस्तुनो निर्विकल्प-सविकल्पकतया प्रमितिविषयीभवनं जाग्रत्स्वप्नौ । तत्रैव स्वरूपानभिज्ञानं सौषुप्तमिति विवेकः । यदुक्तं शिवसूत्रेषु-

'ज्ञानं जाग्रत्' 'स्वप्नो विकल्पः' अविवेको मायासौषुप्तम् ।'
(शिवसू. प्रथम उन्मे. ८,९,१०)

एतेषां विशदं व्याख्यानं तु शिवसूत्रविमर्शिन्यां द्रष्टव्यम् । एत एव जाग्रदादयो योगभूमिकासु धारणा-ध्यान-समाधिरूपतया प्रख्याप्यन्त इत्यवधेयम् । आदिशब्दात् तुरीयावस्थायाः तुर्यातीतस्य च परिग्रहः । इयञ्च तुरीयावस्था शिवसूत्रेष्वेवं लक्षिता-

---

१-एवमादिस्थलेषु बीजार्थावगतये अस्मत्प्रपितामहैराचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदचरणैः प्रणीतो वर्णबीजप्रकाशाख्यो मन्त्रकोशः सुधीभि र्द्रष्टव्यः ।

सेवे सैरिभसंमर्दरक्षणेषु कृतक्षणाम् ॥३॥

तत्तत्कालसमुद्भूतरामकृष्णादिसेविताम् ।

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' (शिवसू. तृतीय उन्मे. २०)

अयं भावः-त्रिषु जाग्रदादि पदेषु, चतुर्थं शुद्धविद्याप्रकाशरूपं तुर्यानन्दरसात्मकं धाम, तैलवत्-आसेच्यम् । यथा तैलं क्रमेण अधिकाधिकं प्रसरद् आश्रयं व्याप्नोति तथा आसेच्यम् । एतदुपष्टम्भेनैव 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्याभोगसंभवः ।' इत्यादिकमप्यासूत्रितम् । जाग्रदाद्यवस्थाभिरनुवृत्तमेतत्तुरीयमेव महास्फुरत्तादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते । एतत्सर्वमभिप्रेत्य तन्त्रालोके-

'यस्य यद् यत् स्फुटं रूपं तज्जाग्रदिति मन्यताम् ।
यदेवास्थिरमाभाति तत्स्वरूपं स्वप्न ईदृशः ॥
अस्फुटं तु यदाभाति सुषुप्तं तत् पुरोऽपि यत् ।
त्रयस्यास्यानुसन्धिस्तु यद्वशादुपजायते ।
स्रक्सूत्रकल्पं तत्तुर्यं सर्वभेदेषु गृह्यताम् ॥' इति ।

आचार्यशंकरभगवत्पादैरपि सौन्दर्यलहर्याम्-

'तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा ।'

इत्यादिना तुरीयायाः माहात्म्यमुन्मीलितम् । तुर्यातीतञ्च परमप्रमातृतयावस्थितं महाप्रकाशरूपं सर्वभावेष्वनुस्यूतम् । यदुक्तं स्पन्दशास्त्रे-

'जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥' इति ।

प्रतिव्यक्ति प्रतिप्रकाशं तत्तत्कार्यसंपादनवेलासु किमपि लोकोत्तरमद्भुतं च कौशलमातन्वतीमित्याशयः । विलक्षणाम् अलौकिकैश्वर्यवतीम् । सैरिभो महिषासुरः तज्जनितो यो लोकानां संमर्दः अरुन्तुदं निष्पीडनम् , ततो रक्षणेषु रक्षाकर्मसु, कृतः विहितः क्षणः उत्सवो अनया ताम् । महालक्ष्मीस्वरूपेणावतीर्णां महिषमर्दिनीमित्यर्थः । सेवे तादात्म्येन आकलये ।

४-तत्तत्कालेषु कृतयुगादि द्वापरान्तेषु, समुद्भूताः अवतारविग्रहत्वेन पृथिव्यामवतीर्णाः ये राम-कृष्णप्रभृतयः पूर्णषाड्गुण्यमहिमानो महापुरुषाः तैः सेविता

एकधा दशधा क्वापि बहुधा शक्तिमाश्रये ॥४॥
स्तवीमि परमेशानीं महेश्वरकुटुम्बिनीम् ।

सविशेषमुपासिता, ताम् । दशावताराणां हृदयग्राहिचरितं काश्मीरिकस्य महाकवेः क्षेमेन्द्रस्य दशावतारचरिते द्रष्टव्यम् । एकधा एकत्वरूपया शक्तिसमष्ट्या प्रतिभासमानाम्, क्वचित् दशधा दशसंख्याकाभि र्महाविद्याभि र्विग्रहत्वमापन्नाम्, क्वापि च बहुधा नानाशक्तिमूर्तिभिः परिणतिं बिभ्राणाम् । अत एव चास्याः चिच्छक्तेर्लीलाविजृम्भितम्—

'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥'
'सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी ।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता ॥'

इत्येवमादि श्रुतिसहोदरै र्महावाक्यैस्तत्र तत्र बहुधा प्रतिपादितम् । शक्तिं सर्वैश्वर्यशालिनीं मातृकासरस्वतीं, आश्रये सर्वात्मना हृदि कलये । दशमहाविद्याश्चागमरहस्ये—

'काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ।
वगला सिद्धविद्या च मातंगी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

आसां दशावतारत्वं यथा मुण्डमालातन्त्रे—

'प्रकृतिर्विष्णुरूपा च पुंरूपश्च महेश्वरः ।
एवं प्रकृतिभेदेन भेदास्तु प्रकृतेर्दश ॥
कृष्णरूपा कालिका स्यात् रामरूपा च तारिणी ।
वगला कूर्ममूर्ति स्यान्मीनो धूमावती भवेत् ॥
छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
कमला बौद्धरूपा स्यात् दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥
स्वयं भगवती काली कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।' इति ।

५—परमेशानीं स्वान्तःक्रोडीकृतअशेषवेद्यवर्गोल्लासिनीम् । महेश्वरस्य शिवस्य, कुटुम्बिनीं पतिपुत्रादिविभवैः प्रशस्तसौभाग्यवतीं पुरन्ध्रीरूपा

सुदक्षिणामन्नपूर्णां लम्बोदरपयस्विनीम् ॥५॥
मेधा-साम्राज्यदीक्षादिवीक्षारोहस्वरूपिकाम् ।

मित्याशयः । सुदक्षिणां अतिशयितौदार्यशालिनीम् । श्यामलादिस्वरूपेण च शिवसहधर्मिणीम् । अन्नपूर्णां पश्चिमाम्नाय-प्रसिद्धविद्याधिदेवताम्, अन्वर्थनामगुणां च शिवपत्नीम् । लम्बोदरस्य लम्बं दीर्घमुदरं यस्य तस्य गणेशस्य । पयोऽस्यास्तीति पयस्विनी सौरभेयी । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति मत्वर्थीयो विनिः । ताम् । शिशोः स्तन्यपानादिकर्मणा धात्रीस्वरूपमापन्नामित्यर्थः । बाल्ये वयसि दुर्गाचामुण्डाभ्यां संभूय गणेशस्य परिपालनात् । अतएव सर्वदेवनमस्यस्य अस्य लम्बोदरत्वं द्वैमातुरत्वञ्च पुराणादिषूपवर्ण्यमानमुपपद्यते । तदेवमियमेकापि लोकयात्रामुपस्कर्तुं नानाविधां व्यवहारभूमिकामारूढेति तात्पर्यम् । एवमादिभावनोपपत्तिदार्ढ्याय-

'आसां मध्यात्तु देवीनां यदैका स्फुरति स्वतः ।
सर्वास्तदैव सततं सामरस्येन यान्त्यलम् ॥
यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यं व्यवस्थितम् ॥'

इत्येवंरूपा अभेदपर्यवसायिनी आगमोद्दिष्टा उपसंहारसरणिः । स्तवीमि स्तौमि ।

६-धियं ज्ञानं क्षिणोति प्रापयति इति दीक्षा । सद्गुरुणा आधीयमानः आगमप्रसिद्धः संस्कारविशेषः । 'दीक्ष मौण्डेज्योपनयननियमव्रतादेशेषु' । तथाचोक्तं तन्त्रालोके-

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥' इति ।

सेयं गुरुहृदयनिविष्टेन परमेश्वरेण कारुण्यात् कटाक्षपातादिना संपाद्यमाना अचिरादेव शिष्यस्य भुक्तिमुक्तिश्रियमुन्मीलयति । देशिकानुग्रहैकलभ्यश्चायं दीक्षामार्गः आणव-शाक्त-शाम्भवादिभेदैः ततोऽपि च शक्तिपातस्य तीव्र-तीव्रतरत्वादिना च नानाभेदोपश्लिष्टः आगमशास्त्रे बहुधा प्रपञ्चितः । श्रुतिस्मृतिसमयाचारविदः सद्गुरोरेवात्र दीक्षाकर्मण्यधिकार इति सर्वथा तदायत्त एवायं मुक्ति-

तामालम्बे शिवालम्बां पराप्रासादरूपिकाम् ॥६॥
अवामा वामभागेषु दक्षिणेष्वपि दक्षिणा ।

सोपानरहस्यलाभः । स च विरलेन केनापि पुण्यवता भक्तिभाजा लभ्यत इति शास्त्रसमयः । अतएव यथावसरं महाभारतादिष्वपि–

'ऋतस्य दातारमनुत्तरस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम् ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापांल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान् ॥'

इत्यादिना देशिकनाथस्यैव एतदुपायतयान्वाख्यानमिति संक्षेपः । मेधा-साम्राज्य-दीक्षादि आगमानुशिष्टानां तत्तद्दीक्षाविशेषाणां या वीक्षा अनुग्रहरसास्तुतं निभालनं सैव आरोहः कैवल्यधाम्नः उपर्युपरि उन्मीलनम्, तत्स्वरूपिकां तदात्मना स्फुरन्तीम् । अयमिह मेधादीक्षाक्रमः–

'कालिका च तथा तारा छिन्नमस्ता च षोडशी ।
बगलेति च मेधाख्या दीक्षा सर्वोत्तमा स्मृता ॥' इति ।

इतोऽप्युपारोहक्रमेण साम्राज्यमेधा -

'बाला तारा च बगला छिन्ना प्रत्यंगिरा तथा ।
साम्राज्यमेधा कथिता साधकाभीष्टदायिनी ॥' इति ।

पराप्रसादो रूपिका आकारो यस्याः सा ताम् । पराप्रासादो नाम शिवशक्ति-सामरस्यात्मा बीजमन्त्रविशेषः । स च अर्धसकारहकाराभ्यामुपेतः चतुर्दशस्व-रेण च संयुतोऽर्धचन्द्रघटितः 'स्हौँ' इत्येवंरूपः । अयमस्योद्धारः–

'चन्द्रो वियत्समारूढोऽनुग्रहेन्दुद्वयात्मकः ।
बिन्दुमानेकवर्णात्मा पराप्रासाद संज्ञकः ॥'

बिन्दुः–सकारः, वियत्–हकारः, अनुग्रहः–औकारः । शेषं स्पष्टम् ।

शिवः आलम्बो यस्याः अथवा शिवस्य आलम्बा इत्युभयथा विगृह्य व्याख्ये-यम् । तथा च शिवसमरसाकारां चिदानन्दघनामित्याशयः । आलम्बे सर्वतः शरणमाश्रये ।

७–वामभागेषु वामाङ्गस्थिति सौभगं जुषमाणापि अवामा वामभावबहिर्भूता । या हि वामा न सा अवामा भवितुमर्हति इति विरोधाभासः । परिहारस्तु वामा

अद्वयापि द्वयाकारा हृदयाम्भोजगावतात् ॥७॥
मन्त्रभावनया दीप्तामवर्णां वर्णरूपिणीम् ।

प्रतिकूला इत्यर्थाश्रयणात् । सर्वावस्थासु पत्युरनुकूलतया समरसोज्वला इति तात्पर्यम् । दक्षिणेष्वपि दक्षिणभागमवलम्बमानेष्वपि दक्षिणा सरला उदारस्वभावा च । अद्वया शिवसामरस्यमश्नुवाना अपि द्वयाकारा द्वैतप्रथामवभासयन्ती । एकस्या एव विमर्शशक्तेरयमेतावान् विजृम्भणोल्लासः यद् द्वैताद्वैतमर्यादया तत्तदनन्तवैचित्र्यभूमिकां प्रतिपद्यमानापि स्वस्वातन्त्र्यभावमजहती सर्वमपि शब्दार्थप्रपञ्चभूतं भुवनाभोगं स्वात्मनि क्रोडीकरोति । उक्तञ्च चिद्गगनचन्द्रिकायाम्–

'याहमित्युदितवाक् पराभिधा यः प्रकाश उदितार्थविग्रहः ।
द्वौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ ॥' इति ।

एवम्–

'चित्स्वभाव्यादसौ देवः स्वात्मना विमृशन् विभुः ।
अनाश्रितादिभूम्यन्ताः भूमिकाः प्रतिपद्यते ॥' इति च ।

हृदयाम्भोजगा, हृदयमेव सुकुमारतया अम्भोजं पुण्डरीकं तस्मिन्नधिष्टिता । हृदयं हि नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यत इत्यभिनवगुप्तगुरवः । तत एव चोपनिषदि–

हृदयं तद् विजानीयात विश्वस्यायतनं महत् ।' इत्यादिकं पठ्यते ।

वाम-दक्षिणशब्दाभ्यां इह लोकप्रसिद्धया उभयविधाचारप्रधानया उपासनाप्रणाल्या यथारुचि सेव्यमाना इत्येवंरूपो व्यङ्ग्यार्थोऽपि संभवदुक्तिको यथाथयमनुसन्धेयः । अवतात् रक्षतात् । इह अवतेरन्येऽप्यर्थाः संभवन्तो नोपेक्षणीयाः ।

८–मन्त्रस्य त्रैपुरादेः भावनया पुनपुनश्चिन्तनरूपया । दीप्ताम् प्रकाशैकसामरस्यमुपागताम् । मननत्राणधर्माणो हि मन्त्राः इत्याम्नायः । शिवसूत्रेष्वपि-'चित्तं मन्त्रः, 'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ।' इति । तथा च मन्त्रमन्त्रिणोरैकात्म्यानुसन्धानफलात्मिका क्रियैव इह मुख्यो भावना पदस्यार्थः ।

परां कन्दलिकां ध्यायन् प्रसादमधिगच्छति ॥८॥

॥ इति दुर्गा-प्रसादाष्टकम् ॥१५॥

अतएव विज्ञानभट्टारके-

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः स्तोत्रं स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

इत्यादिकं पुरस्क्रियते। सेयं अन्तर्यागरूपायामुपास्तौ सकलः, सकलनिष्कलो, निष्कलश्चेति त्रिधा परिणमति। उक्तञ्च योगिनीहृदये-

आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तम् ततः सकलनिष्कलम्।
उन्मन्यन्ते परे स्थाने निष्कलञ्च त्रिधा स्थितम् ॥' इति।

उपासकस्य चित्तशुद्धितारतम्यमेव आसां भूमिकानां भेदे नियामकम्। तदेवं पूर्व-पूर्वभूमिकामुपारूढस्यैव उत्तरोत्तरभूमिकायामधिकार इत्यर्थतः पर्यवस्यति। मीमांसकसंमता लिङादिवाच्या शाब्दीभावना प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना च प्रकृतानुपयुक्ततया नात्र लक्ष्यभूतेति द्रष्टव्यम्। तत्त्वतस्तु विचार्यमाणे सापि विमर्शशक्तिक्रोडान्नातिरिच्यत इत्यन्यदेतत्। पदार्थोदयसंरम्भात्मनः स्वात्म-संवित्स्वरूपस्यैव मुख्यया वृत्त्या मन्त्रशब्दार्थत्वमिति देशिकसिद्धान्तः। तत्स्वरूप-परामर्श एव जप इत्युच्यते। 'कथा जपः' इति शिवशासनात्। परमार्थतस्तु प्रकाशैकरूपस्यात्मनो विमर्शशक्तिरेवानुप्राणनमिति सिद्धान्तात् सा एव मन्त्र-जपादिशब्दानामभिधेयतया प्रथत इति कथनं नासमञ्जसम्। प्रकारभेदस्तु केवलमवशिष्यते। स च रुचिवैचित्र्यादि नानाकारणजातेन अपह्नोतुमशक्य एवेति विपश्चितो विभावयन्तु। अवर्णां वाच्यवाचकभेदव्यवहारमपृथक्तया परामृशन्तीम्। तत उत्तरकक्षामारूढा वर्णरूपतामवभासयन्तीम्। अध्वानो हि षट् इत्यागमः। यदुक्तम्-

'वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशि! भाति त्वयि चिदात्मनि ॥' इति।

तेषु भुवन-तत्त्व-कलान्तानामेको विभागः, मन्त्र-पद-वर्णान्तानाञ्च द्वितीयः। प्रथमो वाच्यवर्गं द्वितीयश्च वाचकवर्गमवभासयति। तदित्थं मन्त्रात्मकेन भावनाकरणेन अवर्णरूपां पूर्वामवस्थां उज्झित्य वर्णरूपामुत्तरामवस्थां प्रविशन्तीमित्याशयः। इदमिह प्रतिपत्तव्यम्-सर्ववर्णानां कारणभूतो नाद एव हि प्रथमं परारूपः मूलाधारचक्रादुत्थितो मणिपूरानाहतयोरागत्य प्राणम-नोभ्यां संयुज्यमानः पश्यन्तीमध्यमात्मना परिणतः कण्ठे वैखरीरूपवर्णात्मकता

मापद्यत इति । एवमिह नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी परा वाक्शक्तिः आदिक्षान्तरूप-अशेषशक्तिचक्रगर्भिणी तत्तद्ग्राह्य-ग्राहकभूमिकां प्रकाशयति । अद्वैतभावभरितस्य परास्वरूपपरामर्श एव पार्यन्तिकी प्रतिष्ठेत्युच्यते । उक्तञ्चापि-

'स्वदेहे जगतो वापि स्थूलसूक्ष्मतराणि च ।
तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा ॥'

अयंभावः-निजदेहस्य आहोस्वित् सर्वस्यापि जगतः संबन्धीनि सूक्ष्माणि सूक्ष्मतराणि च प्रकृतिमहदहङ्कारादीनि तथा पृथिव्यादीनि तद्विकृतिभूतानि स्थूल-शरीरघटकानि यानि सन्ति तेषां स्व-स्वकारणेषु लयं ध्यायतः पर्यन्ते पराभट्टारि-काविर्भाव इति । तत इदमपि न विस्मर्तव्यम्- स्वातन्त्र्यशक्तिरेव परा, सैव क्रमं स्रष्टुमिच्छन्ती अपरा, सैव च क्रमरूपा सती परापरेति व्यपदेशं लभते । स्पष्टश्चायमर्थस्तन्त्रालोकादिषु महागुरूणां सन्दर्भेषु ।

किञ्च, एवमाद्यभिप्रायेणैव विज्ञानभैरवादिषु-

'अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान् ।
उदेति देवि ! सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ॥'

इत्यादिना अनुत्तरक्रम उन्मीलितः । बिन्दुः अविभागस्य संवेदनम्-अद्वैतज्ञानम् । विसर्गो भेदप्रथासर्जनात्मकः ककाराद्यक्षरसृष्टिरूपः । तद्रहितं प्रथमाक्षरमकारं अनुत्तरस्वरूपं विमृशतः सर्वविधायाः ज्ञानभूमेः स्रष्टा परमेश्वरः प्रादुर्भवति । सोऽयमनुत्तरक्रमः-

'न चैकं तदन्यत् द्वितीयं कुतः स्यात्
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥'

इति शांकराद्वैत-सिद्धान्तसिद्धोऽपीति विमर्शकैः समनोनियोगं विभावनीयम् ।

एवंरूपां परां कन्दलिकां प्रकाशाङ्कुरवैजयन्तीं ध्यायन् यावन्मनोलयं तदेकसामरस्यमनुभवन् । यदुक्तं विज्ञानभैरवे-

'भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलान् ।
स्थूल-सूक्ष्म-परस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥' इति ।

प्रसादं पूर्णख्यातिरूपं आनन्दोल्लासं अधिगच्छति-स्वायत्तीकुरुत इतिशिवम् ।

॥ इति दुर्गा-प्रसादाष्टकम् ॥

नवदुर्गा-स्तवः ।

कार्येण याऽनेकविधां श्रयन्ती
निवारयन्ती स्मरतां विपत्तीः ।
अपूर्वकारुण्यरसार्द्रचित्ता
सा शैलपुत्री भवतु प्रसन्ना ॥१॥

स्वर्गोऽपवर्गो नरकोऽपि यत्र
विभाव्यते दृक्कलया विविक्तम् ।
या चाद्वितीयाऽपि शिवद्वितीया
सा ब्रह्मचारिण्यवताद् भयेभ्यः ॥२॥

नवदुर्गा-स्तवः ।

१–या कार्येण कार्यगौरवेण, अनेकविधां श्रयन्ती नानास्वरूपं आदधती, स्मरतां चेतसि भावयतां, विपत्तीः आपदः, निवारयन्ती दूरीकुर्वन्ती, विजयते इत्यध्याहारः । सा अपूर्वकारुण्यरसार्द्रचित्ता अपूर्वः यः कारुण्यरसः करुणाप्रवाहः तेन आर्द्रं द्रवीभूतं चित्तं यस्याः सा । शैलपुत्री हिमवतः कन्या पार्वती, प्रसन्ना भवतु प्रसीदतु । उपजातिवृत्तम् ।

२–यत्र यस्यां स्वर्गः दिव्यो लोकः, अपवर्गो मुक्तिमार्गः, नरकः निरयश्च दृक्कलया, दृश्यते अनया इति दृक् तस्याः कला सामर्थ्यं तया । ज्ञानदृष्ट्येत्यर्थः । अतएवागमे–

'नियतानेव निर्भिद्य कांश्चिदर्थान् निजेच्छया ।
उन्मज्जयति यत् स्वस्माद् दृक्शक्तिः सा निगद्यते ॥'

इत्युपबृंहणं पुरस्क्रियते । विविक्तं पूतं विभाव्यते अनुभूयते । या, अद्वितीया

१–सर्वविधैश्वर्यखनिरपि भगवती हिमवतस्तपश्चर्यया प्रसन्ना करुणापरवशा अतितुच्छतरमपि पुत्रीभावमापेदे इति कियदभिनन्दनीयमस्या वात्सल्यमित्यादि-कथारसः कूर्मपुराणे स्फीतो द्रष्टव्यः ।

पादौ धरित्री कटिरन्तरिक्षं
यस्याः शिरो द्यौरुदितागमेषु ।
अन्यद्यथायोगमयोगदूरा
सा चन्द्रघण्टा घटयत्वभीष्टम् ॥३॥

स्वराड्-विराट्-संसृतिराडखण्ड-
ब्रह्माण्डभाण्डाकलनैकवीरा ।

अपि, न विद्यते द्वितीयो यस्याः सा तथाभूता-अपि शिवद्वितीया शिवसहचरी। ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपं,तच्चारयितुं प्रथयितुं शीलमस्याः सा ब्रह्मचारिणी ब्रह्मरूपप्रदा। भयेभ्यः संसारोत्थाभ्यो भीतिभ्यः 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (पा०सू० १.४.२५) इत्यपादाने पञ्चमी। अवतात् रक्षतात्। 'अव रक्षणे'।

३-यस्याः पादौ चरणौ आगमेषु वेदादिषु तदुपबृंहणभूतेषु पुराणादिषु च धरित्रीरूपेण विश्वंभरात्वेन, कटिः कटिप्रदेशः अन्तरिक्षरूपेण नभोमण्डलत्वेन शिरः शिरोभागश्च द्यौः सुरलोकतया उदिता कथिता। अन्यत् तदतिरिक्तो देहभागः यथायोगं यथायथम् प्रथते। यदुक्तं-

'यस्याग्निरास्यं द्यौ मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥' इति ।

सा अयोगदूरा, योगः शिवेन सह साहचर्यरूपः समागमः तादात्म्यसम्बन्धो वा, स न भवति इत्ययोगः, तेन दूरा वर्जिता। शिवस्य सहधर्मिणीत्वमनुप्रविष्टेत्यर्थः। चन्द्रः घण्टायां यस्याः सा। चन्द्रवन्निर्मलां घण्टां बिभ्रतीम्। तथा च रहस्यागमः-'आह्लादकारिणी देवी चन्द्रघण्टेति कीर्त्यते ।' इति । अभीष्टं मनोऽभिलषितं घटयतु संपादयतु।

४-स्वेनैव राजते इति स्वराट्। स च ब्रह्माण्डान्तरवर्तिसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानी ईश्वरपदाभिलप्यः। विशेषेण राजते, इति विराट्। ब्रह्माण्डात्मकस्थूलदेहाभिमानित्वप्रथां बिभ्राणः। संसृत्या राजते इति संसृतिराट्। तदुभयकारणाव्याकृताभिमानी। एभिस्त्रिभिः समुदितं यदखण्डं ब्रह्माण्डम् ब्रह्मण उत्पादको अण्डाकारो

सा पापविध्वंसनसद्म कूष्मा-

एडाऽव्यादपायादयदानशौएडा ॥४॥

द्वैमातुरत्वे द्विरदाननस्य

षाएमातुरत्वे च कुमारकस्य ।

एकैव माता परमा मता या

सा स्कन्दमाता मुदमादधातु ॥५॥

कतस्य गोत्रादथवाऽपरस्मात्

किं वेतरस्मात् कथमेकिकैव ।

भुवनकोपः, तदेव भाएडं आधारपात्रम् । तस्य आकलने समन्तात् ग्रसने एकवीरा अद्वितीयवीर्या । पापानां यत् विध्वंसनं शातनं तस्य सद्म धामभूता । अयस्य शुभोदर्कस्य दाने शौएडा उदारा । 'सप्तमी शौएडैः' (पा० सू० २. १. ४०) इति समासः । सा कूष्माएडा, कुत्सितः ऊष्मा तापत्रयरूपः संतापो यस्मिन् संसारे स अएडे यस्याः सा । संतापतप्तस्य विश्वस्य ग्रासकरी इत्यर्थः । अपायात् विनाशात् अव्यात् रक्षेत् । 'अव रक्षणे' इत्यतो लिङ् ।

५–द्विरदो हस्ती स इव आननं मुखं यस्य सः द्विरदाननःगणेशः तस्य । द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् द्वैमातुरः तस्यः भावः तस्मिन् । दुर्गाचामुण्डाभ्यां परिपालितत्वात् गणपतिर्द्वैमातुर इति नाम्ना प्रसिद्धिमुपगतो लोके । कुमारकस्य कार्तिकेयस्य । षण्णां मातृणामपत्यं पुमान् षाएमातुरः तस्य भावः तस्मिन् । कृत्तिकात्रिकं, गङ्गा, पृथ्वी, पार्वती चेति षण्मातरः पुराणेष्वाम्नाताः । भगवत्याः प्रभवः सनत्कुमारः स्कन्द इत्याख्यायते । तथा च छान्दोग्ये पठ्यते– 'भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते ।' इति । तस्य माता । या एकैव परमा माता ज्ञानिभिरपि मातृभावेनाभिलषिता, माता जन्मदा मता इष्टा ।

६–कतस्य महर्षेः गोत्रात् वंशात् अथवा आहोस्वित् अपरस्मात् तद्भिन्नात् । किंवा इतरस्मात् अन्यस्मात् कस्माच्चन, कथं जाता उत्पन्ना इति वक्तुं न पारयामः । या एकिका एका एव स्वार्थे कन् । माताह्वयतां मातृशब्दाभिधानं इता प्राप्ता, सा

जातेति माताह्वयतामिता या
कात्यायनी सा ममतां हिनस्तु ॥६॥

कालोऽपि विश्रान्तिमुपैति यस्यां
काऽन्या कथा भौतिकविग्रहाणाम् ।
प्रपञ्चपञ्चीकरणैकधात्री
सा कालरात्री निहताद् भयानि ॥७॥

कालीकुलं श्रीकुलमप्यपारं
कृष्णाद्युपासाप्रवणं यतश्च ।
साऽनन्तविद्याविततावदाना
गौरी विदध्यादखिलान् पुमर्थान् ॥८॥

कात्यायनी[1] अज्ञातजन्मवृत्तान्ता ममतां मायारूपां ममत्वबुद्धिं हिनस्तु नाशयतु । 'हिसि हिंसायाम्' इति रुधादिगणीयात् प्रार्थनायां लोट् ।

७–कालः साक्षान्मृत्युरपि यस्यां जागरूकायां विश्रान्तिं विनाशं उपैति प्राप्नोति । अन्येषां भौतिकविग्रहाणां पञ्चभूतशरीराणां का कथा कः प्रसङ्गः । सर्वसंहारकस्य कालस्यापि संहर्त्री इत्यर्थः । प्रपञ्चस्य सृष्ट्युपहितस्य यत् पञ्चीकरणं पञ्चीकरण-प्रक्रियया एकत्वघटनं तस्य एकधात्री एकैव प्रसवित्री । एवंभूता सा कालस्य रात्री विनाशकर्त्री । 'कृदिकारादक्तिन' इति ङीप् । भयानि भीतयः निहतात् नाशयतात् ।

८–यतः यस्याः सकाशादाविर्भूय । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति पञ्चम्यर्थे तसिः । कृष्णादीनां योगविभूतीनामपि उपासायां प्रवणं उपास्यतया समादृतं कालीकुलं आद्यायाः संततिपरंपरा, श्रीकुलं श्रीमातुश्च वंशवितानः, अपारं परि-

---

१–सेयं देवकार्यसंपादनेच्छया कात्यायनाश्रमे अवतीर्णा, महर्षिणा च पुत्रीवदेव वात्सल्यस्नेहसंवर्धिता कौमारभावमनुपालयन्त्यपि स्वतन्त्रप्रसरेव चिराय तस्थौ इत्यस्याः कात्यायनीति नाम लोके प्रथां प्रापदिति पुराणागममुखाद् विज्ञायते ।

गृणन्ति यां वेदपुराणसांख्य-
योगागमादेव महर्षयश्च ।
पुत्रान् प्रपौत्रान् सुधियः श्रियश्च
सा सिद्धिदा सिद्धिकरी ददातु ॥६॥

न्छेदातीतम् । कालीकुल-श्रीकुलान्तर्वर्तिशक्तिमण्डलं यथा आगमरहस्ये[1]-

'काली तारा रक्तकाली भुवना महिषमर्दिनी ।
त्रिपुरा त्रिपुटा दुर्गा विद्या प्रत्यगिरा तथा ॥
कालीकुलं समाख्यातं श्रीकुलं च ततः परम् ।
सुन्दरी भैरवी बाला बगला कमला तथा ॥
धूमावती च मातङ्गी विद्या स्वप्नावती प्रिये ।
मधुमती महाकाली श्रीकुलं भाषितं मया ॥' इति ।

अतः सा गौरी अनन्तविद्याभिः ज्ञानस्वरूपाभिः अनन्तशक्तिभिः, विततं व्याप्तं अवदानं पराक्रमो यस्याः सा । अखिलान् लोक-परलोकसम्बन्धिनः, पुमर्थान् पुरुषार्थसाध्यान् चतुर्वर्गान्, विदध्यात् सफलीकुर्यात् । विपूर्वात् दधातेर्लिङ् ।

६-महर्षयः साक्षात्कृतमंत्ररूपदेवताशरीराः । यां महामहिमशालिनीम् । वेदात् त्रयीरूपात् । पुराणात् आख्यायिकेतिहासरूपात् । सांख्यात् प्रकृतिपुरुषविवेचनपरादात्मदर्शनाद् । योगात् चित्तवृत्तिनिरोधरूपात् मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रात् । आगमात् अर्धनारीश्वर-मुखोद्गताद् । गृणन्ति निश्चिन्वन्ति । 'गृ शब्दे' इत्यतः कर्तरि लट् । सा सिद्धिकरी अनुरूपनामगुणा सिद्धिदा मुक्तिप्रदा । सुधियः विद्यावदातान् पुत्रान्, तद्वदेव शाखाप्रशाखोपचितान् योग्यतमान् प्रपौत्रान् । गुणोदारां अविच्छिन्नां च कुलसन्ततिमित्यर्थः । श्रियः लक्ष्म्यश्च ददातु वितरतु ।

१-आगमरहस्यं नाम अस्मत्प्रपितामहैराचार्यश्रीसरयूप्रसादद्विवेदपादैः संकलितः तन्त्रप्रमेयसन्दर्भः ।

या चण्डी मधुकैटभप्रमथिनी या माहिषोन्मूलिनी
या धूम्रेक्षणचण्डमुण्डदलिनी या रक्तबीजाशिनी ।
शक्तिः शुम्भनिशुम्भदैत्यदलिनी या सिद्धिलक्ष्मीः परा
सा दुर्गा नवकोटिमूर्तिमहिताऽस्मान् पातु सर्वेश्वरी ॥१०॥

॥ इति नवदुर्गा-स्तवः ॥

१०–या परब्रह्मस्वरूपिणी चण्डी कोपनशीला । भयजनककोपार्थकात् 'चडि कोपे' इत्यतः पचाद्यचि 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । उक्तञ्च भुवनेश्वरीसंहितायाम्–

'यद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यो भीत्या च गच्छति ।
इन्द्राग्निमृत्यवस्तद्वत् सा देवी चण्डिका स्मृता ॥' इति ।

तत एव रुद्राध्याय्यामपि 'नमस्ते रुद्रमन्यव-' इत्यारम्भमन्त्रे प्रथमं मन्यव एव प्रणतिः प्रयुज्यमाना साधु सङ्गच्छते । लोकेऽपि चण्डभानुः चण्डवातः इत्येवमादिप्रयोगेषु भयजनककोपार्थकत्वं सुप्रसिद्धमेव । किञ्च–

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'

इत्यादि श्रुतिरप्यत्रसंवादिनीति द्रष्टव्यम् । मधुकैटभवधप्रधानं श्रीमहाकालीचरितं सप्तशत्याः प्रथमाध्यायरूपं प्रथमचरित्रम् । एवं द्वितीयाध्यायमारभ्य चतुर्थाध्यायान्तं महिषासुरवधाख्यं श्रीमहालक्ष्मीचरितं मध्यमचरित्रम् । ततः पञ्चमादारभ्य त्रयोदशाध्यायान्तं शुम्भ-निशुम्भवधात्मकं श्रीमहासरस्वतीचरितमुत्तरचरित्रम् । अनयैव च धूम्रेक्षणस्य, चण्डमुण्डयोः रक्तबीजस्य च वधः कृत इत्येषामन्तर्भावः उत्तरचरित्रे एव द्रष्टव्यः । विस्तरस्त्वस्मत्प्रपितामहानां सप्तशती-सर्वस्वत आकलनीयः ।

या चण्डी परा अनुत्तरा, सिद्धिलक्ष्मीः सिद्धेः सौभाग्यभूता श्रीरूपेणावस्थिता, सा नवकोटिभिः मूर्तिभिः स्वरूपवितानभूतैरङ्गशक्तिभिः महिता पूजिता, सर्वेश्वरी सर्वस्यापि चराचरस्य स्वामिनी अस्मान् पातु अवतु ।

॥ इति नवदुर्गा-स्तवः ॥

अष्टमूर्ति-स्तवः ।

य: पार्थिवं लिङ्गमुपेत्य शाल-
ग्रामो वटोऽश्वत्थमुखो भवँश्च ।
नानाविधान् मूर्तगुणान् प्रपेदे
तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥१॥

पञ्चदश-स्तवः ।

१–यः पृथिव्या इदं पार्थिवं, मृन्मयं लिङ्गं उपेत्य, शालग्रामः शालानां वृक्षाणां ग्रामः यस्मिन् सः । एतन्नाम्ना प्रसिद्धः पर्वतविशेषः, यदुद्भूताः श्यामवर्णशिलाः विष्णुप्रतिमात्वेन पूज्यन्ते । वटः वटवृक्षः, अश्वत्थमुखः पिप्पलवृक्षप्रधानश्च भवन् अर्थात् शैलूष इव तत्तद्भूमिकामधितिष्ठन् । नानाविधान् असंख्येयगुणधर्मान्, मूर्तगुणान् पृथिव्यादिभूतपञ्चकधर्मान्, प्रपेदे आसेदे, तं अष्टमूर्तिं अष्टौ भूम्यादयः मूर्तयो यस्य सः तम् । शरणं प्रपद्ये शरणमापन्नोऽस्मि । शिवस्य अष्टमूर्तयश्चैवं संख्यायन्ते–

'क्षितिर्जलं तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
यष्टार्कश्च तथा चन्द्रो मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ॥' इति ।

इहेदमवधेयम्–

तदिति सर्वनाम्नः स्त्रीत्वेऽपि अष्टमूर्तिरिति समानम् । अष्टमूर्तिरिति प्रसिद्धं शिवशक्तिनाम । तथा च रघुवंशकारः–'अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः' इति । 'अष्टमूर्तिरजा जैत्री' इति ब्रह्माण्डपुराणम् । उपबृंहणं तु 'त्वमर्कस्त्वं सोमः त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः' इति शिवमहिम्नपद्यादौ । तथा 'मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि' इति सौन्दर्यलहर्यादौ च द्रष्टव्यम् । यावद्देवताविशेषाणां समष्टिः परमेश्वरः । अभियुक्तानां यत्र देवतापदेन व्यवहारः सः श्रौतः स्मार्तो वा देवतापदार्थ एतस्माद् भिन्नः । विस्तरस्तु निरुक्त-बृहद्देवतादिसन्दर्भतोऽवधेयः ।

योऽम्भांसि पावित्र्यगुणस्य सीमा-
मासादयंस्तीर्थपरंपराभिः ।
एतां त्रिलोकीं शतधा पुनीते
तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥२॥

य आश्रयात् त्रित्वमुपागतोऽपि
त्रेता त्रयीमन्त्रगुणेन भूयः ।
चराचराधारतयात्मभूत-
स्तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥३॥

यो योगिनां योगविभूतिसिद्ध्यै
समाधिसिद्धान्त-पथाधिरूढः ।

२-यः अम्भांसि आसादयन्, जलमूर्त्या स्फुरन्। तीर्थं नाम नद्यादेरवतरणभूः पवित्रं स्थानम्। तस्य परंपराभिः समूहैः पावित्र्यगुणस्य पवित्रतारूपस्योत्कर्षस्य सीम आसादयन् एतां त्रिलोकीं त्रयाणां लोकानां समाहारः, ताम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' (पा.सू.२.१.५१) इति द्विगुः। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुःस्त्रियामिष्टः' इति भाष्यकारेष्ट्या स्त्रीत्वम्। 'द्विगोः' (पा.सू.४.१.२१) इति ङीप् च। शतधा अनेकप्रकारैः पुनीते पवित्रयति। 'पूञ् पवने' इत्यतः कर्तरि लट्।

३-यः आश्रयात् आधारगौरवात् त्रित्वं सत्वरजस्तमोरूपं उपागतः प्राप्तः सन्, त्रयीमन्त्रगुणेन त्रय्याः ये मन्त्राः तेषां गुणेन उत्कर्षाधानरूपेण पुनः त्रेता, दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आवहनीयरूपेण समुदितः। चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः, आधारतया अधिकरणतया, आत्मभूतः अनलरूपेण अन्तःस्थितः, तं अष्टमूर्तिं शिवं शरणं प्रपद्ये श्रये।

४-यः योगिनां योगयुक्तात्मनाम्। योगः प्राणसंयमनात्मकः संप्रज्ञातासंप्रज्ञात-लक्षणः क्रियाविशेषः। तस्य विभूतेर्महत ऐश्वर्यस्य, सिद्ध्यै साधनार्थं। समाधिः 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इत्युक्तरूपः, स एव सिद्धि-प्रदत्वात् सिद्धान्तपथः सिद्धान्तभूतो मार्गः, तस्मिन् अधिरूढः उपारूढः।

चतुर्विधप्राणि-निकायमूल-
स्तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥४॥

योऽनन्तखस्यापि गुरुर्गरीया-
नो३मित्यहो व्यस्तसमस्तरीत्या ।
'खं ब्रह्म' पाठेन यजुष्ट्वमाप्त-
स्तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥५॥

यो देवपौरोगवतां प्रयातः
सूर्याश्रयात् तृप्तिकरः पितॄणाम् ।
आप्यायकः सर्वमहौषधीनां
तमष्टमूर्तिं शरणं प्रपद्ये ॥६॥

चतुर्विधानां अण्डजादिभेदभिन्नानां प्राणिनां शरीरिणां निकायस्य सङ्घस्य मूलं आदिकारणम् । शेषं पूर्ववदेव योजनीयम् ।

५-अहो ! यः अनन्तस्य अपरिमेयस्य, खस्य शून्याकृतेराकाशस्य । व्यस्तसमस्तरीत्या व्यस्तेन अकार-उकार-मकारात्मकेन, इच्छा-ज्ञान-क्रिया-प्रतिपादकेन प्रणवान्तःपातिना वर्णसङ्घातेन, समस्तेन अवतीति ओमिति पदेन ब्रह्म-विष्णु-रुद्रात्मकतामधिशयानः । गरीयान् प्रशस्यमहिमा । गुरुः सर्वानुग्राहकः । 'खं ब्रह्म' इति चत्वारिंशदध्यायात्मिकायाः शुक्लयजुःसंहिताया उपसंहारमंत्रः, तस्य पाठेन यजुष्ट्वं प्राप्तः याजुषमहिमां संप्रतिपन्नः । अन्यत् पूर्ववत् ।

६-यः देवानां पौरोगवतां पुरोऽग्रे गच्छति इति पुरोगः गमेर्डप्रत्ययः । तस्य भावः पौरोगवता, ताम् । प्रधानत्वरूपां पुरोगामितां भजन्, सूर्याश्रयात् सहस्र-किरणस्य संपर्कात्, पितॄणां मरीचिप्रमुखानां तृप्तिकरः तर्पण-श्राद्धादिकर्मणा संतोषाधायकः । सर्वमहौषधीनां सर्वाः सहदेवी-शङ्खपुष्पीप्रभृतयः देवस्नानद्रव्य-भूता अष्ट महौषधयः, अन्याश्च वनस्पतयः । तासां आप्यायकः तर्पकतया प्रीतिकरः । इतरत् प्राग्वदेव योजनीयम् ।

य उष्णताद्योतखगर्क्षकेन्द्र-
मेकायनं मुक्तिपथोन्मुखानाम् ।
धामर्ग्यजुःसाममहोदयानां
तमष्टमूर्तिं शिवमेकमीडे ॥७॥

आत्मा य एको यत एव विष्वग्-
ब्रह्माण्डवैचित्र्यविकाशभूमा ।
तमःप्रकाशादिविसर्गबीजं
तमष्टमूर्तिं सहशक्तिमीडे ॥८॥

तर्काग्नितत्त्वनिलयं विलयं भ्रमाणा-
मानन्दसिन्धुसदनं कदनं कुसृष्टेः ।

७-यः उष्णतायाः ऊष्मणः, द्योतस्य आतपरूपस्य प्रकाशस्य । खगस्य चन्द्रादिनवग्रहमण्डलस्य, ऋक्षस्य अश्विन्यादेर्नक्षत्रवृन्दस्य च केन्द्रं मध्यमणिः । मुक्तिपथोन्मुखानां सायुज्यसामीप्यादिचतुर्विधं मुक्तिसोपानमारुरुक्षूणां, एकायनं एकमयनं विषयो यस्य तत्, एकं गन्तव्यस्थानम् । त्रयीशरीरघटकाः ऋग्यजुःसामान एव महोदयाः उत्कर्षरूपमहिमाभृतः । तेषां धाम पदम् । एकं अद्वितीयं शिवं पार्वतीपतिं ईडे-स्तुवे ।

८-यः एकः केवलः आत्मा आत्मस्वरूपेण सर्वत्र आततः । यत एव यत्सकाशादेव, विष्वमञ्चतीति विष्वक् सर्वतः, ब्रह्माण्डवैचित्र्यस्य, आश्चर्यभूमेरस्याः ब्रह्माण्डभाण्डपरिगतायाः वैचित्रीपरंपरायाः, विकाशस्य बहिरुल्लासस्य भूमा अन्तर्यामित्वेनावस्थितः । यश्च तमसः प्रकाशादेश्च विश्रान्तःक्रोडीकृतस्य यावद् वस्तुसंभारस्य, यो विसर्गः अभिव्यक्तिरूपो बहिरुन्मेषः, तस्य बीजं आदिकारणम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

९-'अङ्कानां वामतो गतिरिति' नियमात् तर्काग्निशब्दाभ्यामिह षट्त्रिंशतो ग्रहणमवसीयते । तथाच शैवदर्शनप्रपञ्चितस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रतिपाद्यस्य शिवादिधरण्यन्तस्य तत्त्वसमूहस्य परामर्शः । षट्-त्रिंशत्तत्त्वानां निलयं आधार-

एतन्महेश्वरपदस्तवनं हि यस्मिन्
ज्ञाते वसन्ततिलकायितविश्वमेतत् ॥९॥

॥ इत्यष्टमूर्ति–स्तवः ॥१६॥

भूमिम्। पर्यन्ततः परमशिवे एव सर्वतत्त्वसमष्टेर्विश्रमाभ्युपगमात्। भ्रमाणां मनोविकाराणां विलयं प्रलयभुवम्। आनन्दसिन्धोः आनन्दभरितस्य महार्णवस्य सदनं आगारम्। कुसृष्टेः कुकल्पनाजातस्य कदनं मर्दनम्। एवंविधं तदेतत् प्रक्रान्तं महेश्वरस्य सर्वविधैश्वर्यशालिनः पदस्तवनं चरणयोगुणानुवादः। यस्मिन् प्रशंसावादे ज्ञाते शब्दतोऽर्थतश्च हृदयान्तःकलिते सति एतत् पुरो दृश्यमानं विश्वं वसन्ततिलकायितम् सुरभिसमय इव विविधामोदरसास्वादैः परिपूर्णम् विभाव्यते। वसन्ततिलकायितशब्देन-छन्दसो नामापि ध्वनितम्।

॥ इत्यष्टमूर्ति–स्तवः ॥

१–तन्यते सर्वं तन्वादिकं यत्र तत् तत्त्वम्, तननात् वा आप्रलयं तत्त्वम्, तस्य भावः इति वा तत्त्वमिति व्युत्पत्तिसरणिः। अयञ्च तत्त्वव्यपदेशो उपदेश्यजनापेक्षयैव न वस्तुत इति दर्शनहृदयम्। यतोऽयं सर्वावभासः चैतन्यमहेश्वरः विश्वप्रपञ्चस्वभावोऽपि सन् संविदेकपरमार्थ एव। पर्यन्ततः सर्वत्र संविद एवानुगमात् इति युक्त्यागमसिद्धं परीक्षणीयम्। तत एव स्थेयाः पठन्ति–

'तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद्यदमी वदन्ति।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किंचिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः॥' इति।

अतएव च परमार्थसारे—

'भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्।
इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितमनन्तशक्तिपरिपूर्णम्॥
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्॥ इति।

तत्त्वपरिचयस्तु षट्-त्रिंशत्तत्त्वसंदोहादिषु द्रष्टव्य इति दिक्।

चण्डीशाष्टकम् ।

आस्माकीनं करालं जवमिह भुवने कः सहेदित्यखर्वा-
हंकारोल्लासवल्गल्लहरिशतलुठल्लोलयादोमतल्ली ।
मल्लीमालेव यस्योद्भटविकटजटाकोटरे निष्पतन्ती
दीव्यत्यभ्रस्रवन्ती स मम हृदि सदा भातु चन्द्रार्धचूडः ॥१॥
व्योम्नीवाम्भोदलेखा ह्रद इव लहरीधोरणी पूषणीव
श्यामाकान्तांशुलक्ष्मीरुदयमथ लयं याति यत्र त्रिलोकी ।

चण्डीशाष्टकम् ।

१–इह भुवने जगतीतले आस्माकीनं आवयोरस्माकं वा अयं आस्माकीन इति विग्रहः, तम् । आस्माकमित्यर्थः । अस्मदः खञ्, ईनादेशः, ततः 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (पा. सू. ४. ३. २) इत्यास्माकादेशः । करालं भयोत्पादकं जवं जलप्रवाहवेगं कः सहेत्, को नाम धन्यः सोढुं शक्नुयात् । इति हेतोः अखर्वः अत्युन्नतः यः अहङ्कारोल्लासः अभिमानोदयः गर्वाह्लादो वा तेन वल्गन्तीनां अहमहमिकया प्लुतं प्रवहन्तीनां, लहरीणां महातरङ्गाणां यत् शतं तत्र लुठन् इतस्तत उपसर्पन्, लोलः चञ्चलः, यादोमतल्ली प्रशस्तो जलचरः यस्यां तथाभूता । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । अभ्रं गगनं ततः स्रवन्ती अभ्रस्रवन्ती जह्नुतनया । मल्लीमालेव, मल्ली श्वेतवर्णो मल्लिकापुष्पः, तस्याः मालेव स्रगिव यस्य उद्भटविकटजटाकोटरे उद्भटा प्रशस्ता विकटा विशाला च या जटा केशपाशः तस्याः कोटरे गह्वरे निष्पतन्ती अधस्खलन्ती दीव्यति शोभामावहति । सः चन्द्रार्धचूडः, चन्द्रार्धः चूडायां जूटिकायां यस्य एवंविधः भगवानिन्दुमौलिः मम तच्चरणैकशरणस्य हृदि हृदयादर्शे सदा निरन्तरं भातु उल्लसतु । स्रग्धरावृत्तम् ।

२–व्योम्नि नभोमण्डले, अम्भोदलेखा इव अम्भो ददाति इति अम्भोदो वारिवाहः, तस्य लेखा इव पङ्क्तिरिव । ह्रदे अगाधजलाशये लहरीणां महावीचीनां धोरणी इव परम्परेव । पूषणि भास्करे श्यामाकान्तांशुलक्ष्मीरिव श्यामा रात्रिः

ज्वालाजिह्वालफालज्वलनकवलितोद्दर्पकंदर्पवीरो
हीरो वृन्दारकाणां विशदयतुतरां शेमुषीं सोऽष्टमूर्तिः ॥२॥
उद्यत्सान्द्राम्बुवाहव्यतिकरसुषमासंनिभे कण्ठपीठे
शंपाराजीव यस्यावनिधरदुहितुर्दोर्लता जाज्वलीति ।
स त्रैलोक्यैकनाथोऽदितितनयधुनीमुग्धडिण्डीरपिण्ड-
प्रख्यः श्रीकङ्कटीको मम निबिडतमोग्रन्थिभेदाय भूयात् ॥३॥

तस्याः कान्तो निशापतिश्चन्द्रः तस्य अंशुलक्ष्मीरिव मयूखसुषमेव । त्रिलोकी स्वर्ग-मर्त्य-पाताल-लोकात्मकस्त्रिभुवनाभोगः, उदयं उन्मेषं, अथ लयं अस्तञ्च याति व्रजति । ज्वाला एव जिह्वा रसना तस्यां यत् आलं अनल्पं फालरूपं ज्वलनं, फालं नाम भूमिविदारणार्थं लाङ्गलमुखे आयोजितो लोहविशेषः । तेन कवलितः आत्मसात्कृतः, उद्दर्पः अहंकारावलिप्तः कंदर्पवीरः प्रशस्तबलोऽनङ्गः येन तथाभूतः । वृन्दारकाणां देवानां मध्ये निर्धारणे षष्ठी । हीरः रत्नेषु हीरक इव मूर्धाभिषिक्तः । सः लोकवेदप्रसिद्धः । अष्टमूर्तिः अष्टौ भूम्यादयः मूर्तयो यस्य तथाभूतः । तरुणेन्दुशेखरः अस्माकं चरणाराधनव्रतिनां शेमुषीं प्रज्ञां विशदयतुतरां प्रकर्षविजृम्भितां संपादयतु ।

३–उद्यत् उदयं गच्छत् यः सान्द्रः अम्बुवाहः नूतनो जलधरः तस्य व्यतिकरेण संपर्केण या सुषमा सौन्दर्यं तत्संनिभे तत्सदृशे, घनाघन इव सौन्दर्यवाहिनि इति भावः । यस्य कण्ठपीठे कण्ठप्रदेशे, शम्पायाः सौदामिन्याः राजी इव श्रेणी इव । अवनिधरस्य हिमशैलस्य, दुहितुः आत्मजायाः पार्वत्याः, दोर्लता वाहुवलयं जाज्वलीति प्रकाशातिशयं आतनोति । सः त्रैलोक्यैकनाथः त्रयाणां लोकानां समाहारःत्रिलोकी । त्रिलोकी एव त्रैलोक्यम् । 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इति स्वार्थे ष्यञ् । तस्य एकनाथः अद्वितीयो भर्ता । अदितितनयाः देवाः, तेषां या धुनी तटिनी गङ्गेति प्रसिद्धा, तस्याः मुग्धः सुन्दरः यो डिण्डीरपिण्डः फेनसमूहः तत्प्रख्यः तत्संनिभः । श्रीकङ्कटीकः महादेवः, मम भक्तिप्रव-

---

१–कङ्कटीक–रेरिहाणादि शिवपर्यायतया शारदादेश-प्रसिद्धाः शब्दाः काश्मीरककाव्येषु हरविजयादिषु द्रष्टव्याः ।

संतापस्विन्नचूडामृतकिरणगलत्स्फारपीयूषधारा
भालाग्नौ यस्य दुग्धाहुतिरिव सततं स्यन्दमाना चकास्ति।
स ब्रह्माण्डप्रकाशावनलयघटनानाटिकासूत्रधारो
गौरीप्राणप्रियो नः प्रथयतु नितरां तानि तानीहितानि ॥४॥
श्रीपीयूषादिवस्तुप्रकरविभजनोद्भूतवादैकविज्ञा
देवंमन्या महेच्छा अहह कति दिवो भारभूता न सन्ति।

णस्य निबिडतमोग्रन्थिभेदाय निबिडतमा अत्यन्तं घनीभूता या तमोग्रन्थिः तमोरूपं पाशबन्धनं तस्य भेदाय उन्मोचनाय शिथिलीकरणाय वा भूयात् जायताम्।

४—यस्य शशिशेखरस्य भालाग्नौ वह्निप्रदीप्ते ललाटफलके। संतापेन दाहोष्मणा, स्विन्ना स्वेदबहुला या चूडा जूटिका, तत्सकाशात् अमृतकिरणस्य चन्द्रमसः, गलन्ती अधःस्रवन्ती या स्फारा प्रशस्ता पीयूषधारा अमृतजलनिष्यन्दः। दुग्धस्य पयसः आहुतिरिव प्रक्षेप इव सततं अश्रान्तं यथा स्यात् तथेति-क्रियाविशेषणम्। स्यन्दमाना स्रोतोरूपेण क्षरन्ती, चकास्ति सौन्दर्यं बिभर्ति। सः ब्रह्माण्डस्य त्रिभुवनाभोगरूपस्य, प्रकाशावनलयानां प्रकाशः आविर्भावः, अवनं रक्षणम्, लयः तिरोधानम्। एषां त्रयाणां या घटना रचनापाटवम्, सैव नाटिका जगन्नाट्यरूपो व्यापारः तस्य सूत्रधारः अभिनयप्रवर्तको मुख्यः शैलूषः। गौर्याः पार्वत्याः प्राणप्रियः प्राणेभ्योऽपि प्रियतमः। नः अस्माकम् तानि तानि लोकदुर्लभानि मनोऽभिलषितानि, नितरां अतितरां प्रथयतु उपभोगाय विशदयतु।

५—श्रीपीयूषादिवस्तुप्रकराणां, समुद्रमन्थनादधिगतानां उच्चावचानां लक्ष्म्यादिनानावस्तुनिवहानां यद् विभजनं परस्परं विभज्य संविभागपूर्वकमादानम्। तत्र विभजनावसरे उद्भूतः समुत्पन्नो यो वादः मिथःप्रसक्तः संघर्षरूपो वाक्कलहः, तस्मिन् एकविज्ञाः मुख्यतया विदग्धाः। केवलं विभागकरणैकमात्रचतुरा इति तात्पर्यम्। देवंमन्याः अहंपूर्विकया दिविषत्सु आत्मनः प्राधान्यं पुरस्कुर्वाणाः। महेच्छाः महानुभावाः। दिवः स्वर्लोकस्य, भारभूताः भारैकवाहिनः। अहह इति खेदे अव्ययम्। कति न सन्ति, नामधारिणः के

देवस्त्वेकस्त्रिलोकाद्मरविषकवलीकारकेलीविदग्धो
वर्वर्त्यार्तानुकम्पाधृततनुघटनासेचनो रेरिहाणः ॥ ५ ॥
पुष्पानेहेव बाढं विबुधविटपिषूत्कर्षपुष्पप्रकर्षं
तन्वन्सुप्तोऽपि सद्यो मयपुरदहनं यो व्यधाद्विश्वभूत्यै ।
सोऽव्यान्मूर्तोऽप्यमूर्तो यतिरपि सतताहीनभोगोपभोगी
कान्ताश्लिष्टोऽप्यकान्तः शशधरमुकुटालंकृतिर्देवदेवः ॥६॥

वा नासते । एकः अनन्यसदृशः, त्रिलोकस्य अद्मरं भक्षणप्रसक्तं यत् विषं गरलं, तस्य कवलीकारः निगरणमेव केलिः क्रीडाव्यापारः, तत्र विदग्धः निपुणो रेरिहाणः देवदेवः शिवः। आर्तानां त्रिविधदुःखतप्तानां उपरि या अनुकम्पा वात्सल्यरूपो दयाभावः; तया धृता धारिता या तनुः शरीरं तेन आसेचनः अतिमनोहरः। वर्वर्ति अतिशयेन चकास्ति ।

६–पुष्पाणां कुसुमसङ्घातानां अनेहा सुरभिसमयः। स इव बाढं अत्यन्तं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । विबुधाः सुमनस एव विटपिनः पादपाः तेषां उत्कर्षरूपः सौभाग्यैकफलः यः पुष्पात्मकः प्रकर्षः कुसुमसमृद्धिरूपो उदयः तम् । सुप्तः निद्रितः सन्नपि तन्वन् वितरन् । यो हि निद्राति स कथं अन्यस्मै उत्कर्षं वितरितुं प्रभवेदिति विरोधाभासो नामात्रालङ्कारः। विरोधनिरासस्तु सुष्ठु प्ता-जटा यस्येत्यर्थाश्रयणात् कर्तव्यः । यः विश्वभूत्यै जगतां वैभवस्य संरक्षणाय, लोकानामभ्युदयाय च। सद्यः सपद्येव, मयपुरस्य मयेतिनाम्ना प्रसिद्धेन शिल्पिना निर्मितस्य, स्थापत्यकलारमणीयस्य नगरस्य । दहनं भस्मीभावं व्यधात् व्यधत्त । सः महामहिममूर्तिः, मूर्तः सन्नपि अमूर्तः, लोकोपकृत्यै दयादाक्षिण्यादिभिरनु-रूपैः सातिशयैः गुणैः नानाशरीरमाश्रितः । अमूर्तः अदृश्यतनुः । यो हि मूर्तः न स अमूर्तो भवितुमर्हति इति विरोधाभासः। परिहारस्तु सगुण-निर्गुणत्व-रूपाभ्यां विभ्राजमान इत्यर्थाश्रयणात् । यतिः भिक्षुः सन्नपि सततं अविरतं अहीनः अत्युत्कृष्टः यः उपभोगः नानाविधो विषयास्वादः तं उपभुङ्क्ते तच्छीलः अहीनभोगोपभोगी । अत्रापि पूर्ववत् विरोधाभासो द्रष्टव्यः। तन्नि-रासस्तु अहीनां सर्पाणां यः इनः स्वामी वासुकिः तस्य यः भोगः फणा तामुप-भुङ्क्ते इत्येवंरूपार्थकरणात् । कान्तया गौर्या आश्लिष्टः आलिङ्गितः सन्नपि,

देवानां सार्वभौमो त्रिविधभवभवाज्ञानवाटीकुठारः
श्रेयः श्रीरङ्गशालाखिलनिगमकलाकल्पनोल्लाससीमा ।
सर्वांहोभङ्गबीजं मुनिजनहृदयागाररत्नप्रदीपः
कश्चिद्भूमास्तु भूत्यै स्फुटकुमुदवनीभार्गवीगेयकान्तिः ॥७॥

क्रोडक्रीडत्पृदाकूत्कटविकटजटाटोपटंकारकेलि-
त्रुट्यन्नक्षत्रचक्रक्रमिकचटचटाकारिवृष्टिप्रकृष्टम् ।

अकान्तः कान्तया रहितः विधुर इति यावत्। इहापि विरोधः आभासते । स च एवं परिहरणीयः- अकानां क्लेशानां पापानां वा अन्तो यस्मादिति । शशधरः शशं मृगभेदं धरति इति शशधरः चन्द्रः, स एव मुकुटस्य शिरोभूषणस्य अलंकृतिः आभरणं यस्य तादृशः । सः देवदेवो महादेवः अस्मान् अव्यात् रक्षेत् ।

७–देवानां अमराणां सार्वभौमः सर्वभूमेरीश्वरः 'सर्वभूमिपृथिवीभ्याम-णञौ' इत्यण् । चक्रवर्ती पार्थिवः । त्रिविधः अनेकयोनिभुक्तः यो भवः उत्पत्तिः तत्र भवानां उत्पन्नानां अज्ञानानां तमोरूपाणां या वाटी उपवनं, तस्याः कृते कुठारः परशुरिव सद्यः संहारकः । श्रेयसः मुक्तिधाम्नः या श्रीः सुषमा, तस्याः रङ्गशाला अभिनयभूमिः । अखिलाः ये निगमाः वेदोपवेदाः, उपनिषदादयो वेदशिरोभागाश्च तेषां या कला नवनवो उदयः, तस्याश्च यः कल्पनोल्लासः कल्पना-प्रसूतः आह्लादः । तस्य सीमा पार्यन्तिकीभूः । सर्वाणि यानि अंहासि पापसङ्घाः तेषां भङ्गस्य उच्छेदस्य बीजं आदिकारणम् । मुनिजनानां सनकादितपोमूर्तीनां हृदयागारस्य महतः प्रतिष्ठायतनस्य, रत्नप्रदीपः रत्न इव भास्वरः प्रकाशस्तम्भः । स्फुटा विकसिता या कुमुदवनी कह्लारवाटिका । सा इव भासमाना या भार्गवी पार्वती, तया गेया कान्तिः सुषमासौभाग्यं यस्य तथाविधः । कश्चित् अनिर्वच-नीयमहिमा । भूमा परमात्मा । भूत्यै सर्वविधोत्कर्षाय अस्तु जायताम् ।

८– क्रोडे उत्सङ्गे क्रीडतां खेलां कुर्वतां पृदाकूनां सर्पाणां, उत्कटे महति प्रशस्ते, विकटे विशाले जटायाः आटोपे संभारे, या टंकारशब्दानां केलिः क्रीडा, तया त्रुट्यन् यो नक्षत्रचक्रः तारकवृन्दः, तस्य च या क्रमिका यथोत्तरं

उच्चैर्दोर्दण्डखण्डभ्रमणवलयिताशेभचीत्कारचण्डं

पादप्रक्षेपकम्प्रक्षिति मदनकृषस्ताण्डवं नः पुनातु ॥८॥

॥ इति–चण्डीशाष्टकम् ॥

वेगवती चटचटाकारिणी चटचटेति शब्दायमाना, वृष्टिः वर्षणं तया प्रकृष्टं भव्यम् । उच्चैः उन्नतस्य, दोर्दण्डस्य भुजयुगलस्य, यः खण्डः शकलं तस्य भ्रमणेन इतस्ततः चलनेन वलयितानां सर्वतो वेष्टितानां, आशानां दिङ्मण्डलानां, ये इनाः करिणः, तेषां चीत्कारेण चीत्कारशब्देन, भयोत्पादकेन बृंहितेन वा चण्डं अत्युग्रम् । पादप्रक्षेपकम्प्रक्षिति पादप्रक्षेपेन पादन्यासेन कम्प्रा कम्पनवती क्षितिः धरित्री यस्मिन् । एतादृशं मदनकृषः मन्मथमानभञ्जकस्य शिवस्य ताण्डवं तण्डुना मुनिना प्रोक्तः सुप्रसिद्धो नृत्यविशेषः । नः अस्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु ।

॥ इति–चण्डीशाष्टकम् ॥

१–नृत्यं तावत् पुंस्त्रीभेदभिन्नतया द्विविधं परिभाष्यते । तत्र पुंनृत्यस्य प्रतिनिधिभूतं ताण्डवं स्त्रीनृत्यस्य च लास्यम् ।

यथोक्तम्–

'पुंनृत्यं ताण्डवं प्राहुः स्त्रीनृत्यं लास्यमुच्यते ।' इति ।

तदिदमुभयं जगतो मातापितृभ्यां पार्वतीपरमेश्वराभ्यां प्रवर्तितं मिथुनसृष्टिरूपस्यास्य विश्व-प्रपञ्चव्यापारस्य तद्गतस्य च आनन्दरसोल्लासस्य सर्वस्वभूतम् । कल्पनयैवास्य सकलमपि ब्रह्माण्डं परिभ्रमन्निव आलक्ष्यते । एकेनैवानेन सौरमण्डलादारभ्य धरामण्डलान्तः विश्वविकाससंस्काररूपः सर्वोऽपि क्रियाकलापः प्रतिबिम्बितः सन् ताण्डवस्य विलक्षणं ज्ञानगूढं च रहस्यमावेदयति ।

हरिहराष्टकम् ।

एकत्र शृङ्गाररसानुविद्धं
परत्र वैराग्यपथाधिरूढम् ।
परस्परस्नेहदृगेकदृश्यं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ १ ॥

उपासनाकोटिकथानकेऽपि
द्वैतोपसर्गस्य जिहीर्षयेव ।
अद्वैतभावार्पितकेलिकायं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ २ ॥

हरिहराष्टकम् ।

१-एकत्र विष्णुरूपात्मना लीलाविग्रहतामुपेयुषि, शृङ्गाररसेन ललितमधुराभिः शृङ्गाररस-विच्छित्तिभिः, अनुविद्धम् आश्लिष्टम् । शृङ्गाररसोर्जितां भूमिकामादधानमिति यावत् । परत्र शिवात्मना अवतीर्णः सन् । वैराग्यपथं विरागस्य भावो वैराग्यम् । तस्य पन्थाः वैराग्यपथः । समासान्तोऽच् प्रत्ययः । 'विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।' (यो. द. १. १५) तस्मिन् अधिरूढः तम् । वैराग्यभावमनुप्रविष्टमिति यावत् । परस्परं अन्योन्यं स्नेहदृशा अनुरागातिशयेन एकं अभिन्नं दृश्यं साक्षात्कारो यस्मिन् । तथाविधं हारिहरस्वरूपं हरिहरयोरिदं हारिहरं स्वरूपं वन्दामहे प्रह्वीभावेन आनताः स्मः । उपजाति-वृत्तम् ।

२-उपासनानां ईश्वरोपास्तीनां याः कोटयः उच्चावचाः भेदोपभेदाः तासां कथानके विविधाख्यानवैचित्र्योद्भासिते सत्यपि । द्वैतोपसर्गस्य द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावः द्वैतम् द्विधाभावः पार्थक्यमिति यावत् । तदेव असद्रूपप्रवृत्ततया उपसर्गः उत्पातः तस्य जिहीर्षा हातुमिच्छा । 'ओहाक् त्यागे' इत्यतः सन्नन्तादप्रत्ययः । तया इव । सर्वात्मना द्वैतच्छेदायैवेत्यर्थः । अद्वैतभावे एकस्मिन् चिद्रूपपरमार्थे अर्पितः उपसर्जनीकृतः केलिरूपः कायः विग्रहो यस्मिन् तथाभूतम् । तत एव अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिकादिषु-

हरिर्हरस्यैष हरो हरेश्च
सौहार्दसीमानमुपैति बाढम् ।
इत्यादराद् व्यासगवीषु गीतं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ३ ॥
एकत्र लक्ष्मीललितानुकारि
परत्र गौरीगुरुतापहारि ।

'शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदञ्चयन् ।
पञ्चकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः ॥' इत्येवमाद्युक्तयः प्रथन्ते । चतुर्थश्चरणः सर्वत्र समानार्थको यथायथं योजनीयः ।

३–एष हरिः हरस्य, हरश्च हरेः बाढं अत्यन्तं यथास्यात्तथा । सौहार्दस्य अन्योन्यानुरागरूपस्य सीमानं उत्कर्षातिरेकं उपैति प्राप्नोति । हरिहरयोः परमार्थतो न कश्चन भेदप्रसर इति तात्पर्यम् । इति हेतोः व्यासगवीषु कृष्णद्वैपायनोक्तिषु आदरात् श्रद्धाभरात् गीतं सविशेषमुपश्लोकितम् । तथा च हरिहरयोः स्नेहानुबन्धमुद्दिश्य महाभारते–

'यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु ।
नावयोरन्तरं किंचिन्मा ते भूद् बुद्धिरन्यथा ॥
अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्वयम् ।
मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥'
(शान्तिप. मोक्ष. अ. ३४३ श्लो. १३३-१३४)

तत एव च–

'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवद्भाति ।
कश्चिन्मूढः कलयति हरिहरभेदं विना शास्त्रम् ॥'

इत्याद्युच्यमानं परं संवादमावहति । हरतीति हरिः हरश्च । पूर्वत्र 'अच इः' (उणा. ४।१३९) परत्र 'पचाद्यच्' (पा. सू. ३. १. १३४) ।

४–एकत्र विष्णुरूपत्वप्रथां दधाने सति । लक्ष्म्याः ललितं शृङ्गारानुगुणश्चेष्टाविशेषः तं अनुकरोति अनुसरति इति तथाभूतम् । शृङ्गारोदयैरुपस्कृतमिति

सरस्वतीगीतगुणप्रवाहं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ४ ॥
गाङ्गैस्तरङ्गैरधऊर्ध्वशोभि
विशेषितं शेषविजृम्भितेन ।
शङ्खावदानाकलनासु कल्यं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ५ ॥
अन्योन्यकायच्छविकल्पितेन
श्यामेन गौरेण च रोचिषाढ्यम् ।

भावः । परत्र शिवरूपे, गौर्याः पार्वत्याः यो गुरुतापः पतित्वावाप्तिरूपफलकामनया गभीरतमः संतापः, तं हरति इति तथाभूतम् । सरस्वत्या वाग्देवतया गीतः वाच्य-लक्ष्य व्यङ्ग्यविधया प्रकाशितः गुणानां प्रवाहो यस्य तत् । शेषं प्राग्वत् ।

५–गाङ्गैः मन्दाकिनीप्रभवैः तरङ्गैः वीचिच्छटाभिः । अधः चरणप्रान्ते ऊर्ध्वं शिरोभागे च शोभते इत्यधऊर्ध्वशोभि । विष्णुपदाद् शिवस्य जटाजूटाच्च भागीरथ्या उद्गम इति पुराणादिषु सुव्यक्तम् । तत एव चास्या विष्णुपदीति नाम लोके प्रथां प्रापत् । एवं मुद्राराक्षसादौ 'धन्या केयं स्थिता ते शिरसि' इत्युपक्रम्य–

'देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद् विभोर्वः ।' इति ।

तथा–

'स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये ।
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा ।'

इति गङ्गालहर्यादौ च कवीनां वाङ्निष्यन्दः । शेषः सर्पराजो वासुकिः तस्य विजृम्भितेन एकत्र शय्यास्तरणादिना परत्र कण्ठाद्याभरणतां गतेन तत्तद् विलसितेन । विशेषितं प्रेमास्पदीभूतम् । शङ्खः पाञ्चजन्यं नागविशेषश्च । तस्य यत् अवदानं विक्रमाचरितं तस्य आकलनासु अनुसन्धानेषु कल्यं निपुणम् । अन्यत्स्पष्टम् ।

६–अन्योन्यस्य परस्परस्य या कायच्छविः देहद्युतिः तया कल्पितेन प्रतिबिम्बितेन श्यामेन श्यामवर्णेन गौरेण गौरवर्णेन च रोचिषा प्रभया आढ्यम्–वित्तम् । उत्सर्पिणी अन्योन्यव्यतिषक्ता या गङ्गायमुनयोः ऊर्मिः तरङ्गसंततिः

उत्सर्पिगङ्गायमुनोर्मिसंस्थं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ६ ॥

पर्यन्तभीमा गुणभेददृष्टि-
र्मा भूच्च नौ मायिकविग्रहेऽपि ।
इत्युल्लसद्वर्णविपर्ययाभं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ७ ॥

न वस्तुतो ब्रह्मणि कल्पितेषु
मायावतारेषु भिदावकाशः ।

तस्मिन् संस्थं अवस्थितम् । परस्परं संपृक्तयोः गङ्गायमुनयोः सङ्गम इव कमपि विच्छित्तिविशेषमावहन्तमिति भावः । एतद्वर्णनानुरूपमेव इहेदं पद्यद्वयम्-

'परिणतशरदिन्दुसुन्दराभं
वदनमनभ्रनभोनिभश्च कण्ठः ।
इति शुभमुभयं विभोरभिन्न-
त्रिदशधुनीयमुनाविडम्बि वन्दे ॥

हिमहिमकरहारि वारि गाङ्गं
कुवलयकान्ति कलिन्दकन्यकाम्भः ।
इति शुभमुभयं प्रभुप्रसादाद्
वपुरिव हारिहरं वरं प्रपद्ये ॥'

७- नौ आवयोः मायिकविग्रहे माया अस्ति अस्येति मायिकः ठन् । मायाजनितः काल्पनिको वा यो विग्रहः शरीराधानं तस्मिन्नपि । पर्यन्ते तत्त्वतः परमार्थकलनप्रसङ्गे भीमा भेदोपस्कारकतया भयोत्पादिनी । गुणैः सत्वरजस्तमोरूपैः, या भेददृष्टिः पृथक्तया हरिहरयोः स्वरूपप्रतिपत्तिः, सा मा भूत् मा प्रसाङ्क्षीत् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । इति हेतोः उल्लसन्ती स्फीतं चकासन्ती वर्णविपर्ययस्य अन्योन्यश्यामगौररूपायाः वर्णसङ्क्रान्तेः आभा दीप्तिर्यस्मिन् तत् । शेषं स्पष्टम् ।

८- वस्तुतः परमार्थदृशा, ब्रह्मणि प्रत्यगात्मस्वरूपे परब्रह्मणि, कल्पितेषु उपासकजनचित्तावतरणार्थं नानाविधां नामरूपात्मिकां कल्पनाभूमिमवतीर्णेषु ।

इतीव सत्यापयितुं निरूढं
वन्दामहे हारिहरस्वरूपम् ॥ ८ ॥

एतन्मायिकनामरूपरचनाप्राग्भारविस्फूर्जितं
सत्यं वानृतमेव वेत्युभयथावादेऽपवादास्पदम् ।

मायावतारेषु त्रिगुणात्मिकां नामरूपशय्यामधितिष्ठत्सु । भिदायाः भेदनं भिदा । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ् प्रत्ययः । तस्याः अवकाशः अवसरः नोपतिष्ठते । तथा च रामतापिन्याम्–

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥'

एवम्–

'ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः ।'

इत्यादिकं योगवार्तिकादिषु प्रतिपद्यामहे । अस्यैवोपबृंहणम्–

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥' इति ।

इतीव सत्यापयितुं एवमिदमिति सत्याभिधित्सया एव । सत्यापशब्दात् 'सत्यापपाशे'ति णिच् ततस्तुमुन् । निरुढं अनादिकालात् प्रसिद्धं हारिहरस्वरूपं वन्दामहे । ❋

९– एतत् दृश्यात्मना परिणतं, जनैरनुभूयमानं वा । मायिकनामरूपरचनाप्राग्भारविस्फूर्जितं मायिकी मायोद्भाविता या परब्रह्मणः नामरूपयोः रचना अनन्तप्रकारायमाणः कल्पनाविन्यासः, तस्याश्च यः प्राग्भारः उत्कर्षः तेन विस्फूर्जितं विविधाकारबहलम् । सत्यं ऋतं अनृतं असत्यं वा, इति एवंरूपेण

❋ इह प्रकृतयोः हरिहरयोः परमार्थतत्त्वं परामृशद्भिः पुष्पाञ्जलिकाराणां अस्मत्पितामहचरणानां चातुर्वर्ण्यशिक्षायाः वेददृष्टिः सधीविभवं विभावनीया ।

सिद्धान्तं सुधियां हृदि प्रथयितुं द्वैधावसानायितं
शान्तं हारिहरस्वरूपमवतात्संसारभीतेर्जगत् ॥६॥

॥ इति हरिहराष्टकम् ॥

उभयथा सदसद्रूपतया, वादे तत्त्वनिर्णयपुरस्सरं निरूपणे, अपवादस्य विशेष-विधिरूपस्य बाधकस्य, आस्पदं स्थानम् । सुधियां सत्यकामानां मनीषिणां न तु मत्सरिणाम् । हृदि चित्तादर्शे, द्वैधस्य द्वैतरूपस्य यत् अवसानं विरामः, तदाकारतया निर्णीतो यः सिद्धान्तः, सत्यैकरूपो निष्कर्षः तम् । प्रथयितुं यथायथं विज्ञपयितुम् । शान्तं शमतरङ्गितं अनास्थाकरैर्भेदवादोपद्रवैश्च एकान्ततो विरहितम् । हारिहरस्वरूपं भिन्नो भिन्नतया प्रतिभासमानमपि परमार्थतोऽभिन्नम् । संसारभीतेः जगदेकजन्मनो भयावतरणात् । जगत् विश्वात्मकमिदं प्रतिष्ठानं अवतात् रक्षतात् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

॥ इति हरिहराष्टकम् ॥

१—एकः खलु परमेश्वर इति सर्वसम्मतः सिद्धान्तः । स च ।

'अनस्तमितभारूपस्तेजसां तमसामपि ।
य एकोऽन्तर्यदन्तश्च तेजांसि च तमांसि च ॥
स एव सर्वभावानां स्वभावः परमेश्वरः ।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ॥'

इत्यादिना पुरस्क्रियते । ततश्च वेवेष्टि इति विष्णुः, शिवयति इति शिवः इति शब्दव्युत्पत्त्या उभयविधोऽपि वाच्यार्थः परस्परं संयुज्यमानः एकामेव व्यक्तिं निर्दिशति इति हरिहरयोरभेदः शास्त्रेष्वभिहितः सङ्गच्छतेतराम् । तत एव अध्यात्मरामायणे—

'अयं च विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः ॥
विरञ्चिविष्णवीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥'

इत्युपश्लोक्यते । एवं कविसृष्टावपि-

'हरिशंकरयोः सितासितं भुजगारातिभुजङ्गलाञ्छनम् ।
वपुरस्तु मुदे विरुद्धयोरपि संसर्गि न भिन्नतां गतम् ॥

इत्येवमुपवर्ण्यते । अधिकं दिदृक्षुभिरस्मत् पितामहानां हरिहरभेदनिरासो विलोकनीयः ।

यदन्ते एवमुपसंहृतम्—

'मतिकर्दमेषु मग्नानुपासकानृजुपथं समानेतुम् ।
हरिहरभेदनिरासोऽजनिष्ट शास्त्राणि संधाय ॥' इति ।

शिव–गाथा ।

जय जय गिरिजालंकृतविग्रह,
जय जय विनताखिलदिक्पाल ।
जय जय सर्वविपत्तिविनाशन,
जय जय शंकर दीनदयाल ॥ १ ॥
जय जय सकलसुरासुरसेवित,
जय जय वाञ्छितदानवितन्द्र ।
जय जय लोकालोकधुरंधर,
जय जय नागेश्वर धृतचन्द्र ॥ २ ॥

शिव–गाथा ।

१– गिरिजया पार्वत्या अलंकृतः विभूषितः विग्रहः देहो यस्य तत्संबुद्धिः । जय जयेति सर्वत्र वीप्सायां द्विरुक्तिः । विनताः प्रणताः अखिलाः समस्ताः दिक्पालाः दिशामधीशाः यस्य सः । सर्वासां विपत्तीनां आपदां विनाशनः संहारकः । दीनेषु दुर्गतेषु दयनीयेषु वा दयालः दयालुः । दीनदयालशब्दो आर्त्तत्राणमभिदधत् ईश्वरपर्यायितया लोके बहुलं प्रयुज्यते । स चात्र कविनोपनिबद्धो भक्तस्य अधिकाधिकां देवविषयां रतिं पुष्णाति । एवमादिस्थलेषु अपभ्रंशशब्दा अपि प्रयुज्यमाना रसभावादिपरिपोषकतया परं चारुत्वोत्कर्षं घटयन्तीति कविसमयः। क्वचित् सत्यावश्यके प्रासनिर्वाहार्थमपि तथा प्रयुज्यमानं न दोषायेति शब्दसाधुत्वपक्षपातिभिर्नात्र विमनायितव्यमिति संक्षेपः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । अस्यां गीतिकायां भगवतः स्वाभिमुखीकरणाय सर्वेऽपि संबोधनान्ता एव शब्दाः प्रयुक्ता इति तेषां समास-विग्रह-प्रदर्शनावसरे प्रतिपदं संबोधननिर्देशो मन्दप्रयोजन इति कृत्वा नैवादृत इत्यवधेयम् ।

२– सकलैः समस्तैः सुरासुरैः देवैः दानवैश्च सेवितः भक्त्या समुपासितः । वाञ्छितस्य मनोभिलषितस्य दाने वितरणे वितन्द्रः विगता तन्द्रा यस्य तथाभूतः निरालस इत्यर्थः । लोकालोकस्य लोकानां त्रिभुवनरूपाणां आलोकः प्रकाशः

जय जय पण्डितपुरीनिवासिन्,
जय जय करुणाकल्पितलिङ्ग ।
जय जय संसृतिरचनाशिल्पिन्,
जय जय भक्तहृदम्बुजभृङ्ग ॥ ३ ॥
जय जय भोगिफणामणिरञ्जित,
जय जय भूतिविभूषितदेह ।

यस्मिन् तादृशः यः उदयाचलशैलः तस्य धुरं धरति बिभर्ति तथाभूतः । नागानां सर्पाणां ईश्वरः प्रभुः । धृतः मूर्ध्नि धारितः चन्द्रो येन सः ।

३– पण्डितपुर्यां एतन्नाम्ना सुप्रसिद्धे पण्डितानामावासे निवसति तच्छीलः पण्डितपुरीनिवासी ततः सम्बुद्धिः । अत्रेयं पुष्पाञ्जलिकाराणां पद्यद्वयी प्रसङ्गादुद्ध्रियते–

'अखण्डसौभाग्यविभूतिसूति-
विश्वम्भरालंकरणैकहेतुः ।
समीहिताकल्पनकल्पवल्ली
जयत्ययोध्या कमलालया च ॥ १ ॥
तस्याः पृष्ठचरीव पश्चिमदिशि क्रोशाष्टकाभ्यन्तरे
पाण्डित्यास्पदमस्ति पण्डितपुरी पिल्खांवपर्यन्तभूः ।
यत्राभ्यर्थनतोऽपि भूरिदतया गीतावदानोत्करः
प्रालेयद्युतिशेखरो विजयते श्रीजङ्गलीवल्लभः ॥ २ ॥'

करुणाया अनुकम्पातिशयेन कल्पितं गृहीतं लिङ्गं पार्थिवादिरूपं येन तथाभूतः । संसृतेः संसाररूपायाः या रचना निर्माणकौशलम् तस्य शिल्पी कारुः विश्वकर्मास्वरूपो वा । भक्तानां हृत् मानसमेव अम्बुजं कमलं तत्र भृङ्गः भ्रमरायमाणः ।

४– भोगिनां अहीनां याः फणाः स्फटाः 'स्फटायां तु फणा द्वयोः' इति कोषः । तासु च ये मणयः तैः रञ्जितः प्रसादितः । भूत्या भस्मना 'भूतिर्भसितभस्मनि' इत्यमरः । विभूषितः सम्यगलङ्कृतः देहो यस्य सः । पितृवनं श्मशानभूमिः ।

जय जय पितृवनकेलिपरायण,
जय जय गौरीविभ्रमगेह ॥ ४ ॥
जय जय गाङ्गतरङ्गलुलितजट,
जय जय मङ्गलपूरसमुद्र ।
जय जय बोधविजृम्भणकारण,
जय जय मानसपूर्तिविनिद्र ॥ ५ ॥
जय जय दयातरङ्गितलोचन,
जय जय चित्रचरित्रपवित्र ।
जय जय शब्दब्रह्मविकाशक,
जय जय किल्विषतापधवित्र ॥ ६ ॥

'श्मशानं स्यात्पितृवनम्' इत्यमरः । तत्र या केलिः क्रीडाव्यापारः तस्यां परायणः प्रसक्तः । गौर्याः पार्वत्याः विभ्रमाणां शृङ्गारचेष्टितानाम् गेहः सदनम् ।

५– गाङ्गैः सुरसरित्संभवैः तरङ्गैः वीचिभिः लुलिता इतस्तत आर्द्रीभूता जटा केशसमूहो यस्य तथाभूतः । मङ्गलपूराणां माङ्गलिकानां अपां समुद्रः सागरः । बोधः ज्ञानम् तस्य यत् विजृम्भणं स्फारोल्लासः तस्य कारणं निदानभूतम् । मनसि भवं मानसं मनोवाञ्छितं तस्य पूर्तौ यथायथं संपादने विनिद्रः विगतनिद्रः प्रबुद्ध इति यावत् ।

६– दयया वात्सल्यरसपूरेण तरङ्गिते सिक्ते लोचने नयने यस्य तादृशः । चित्रैः विस्मयकरैः, चरित्रैः लोकोद्दिधीर्षया यथावसरमनुष्ठितैः तैस्तैर्व्यापारजातैः, पवित्रं पूतम् । शब्दब्रह्मणः अकारादि क्षान्तस्य वर्णराशेः, विकाशकम् प्रकाशैकभूमिम् । तथा च पठ्यते वाक्यपदीये–

'अनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' इति ।

किल्विषं पापमेव संतापजनकत्वात् तापः तस्य धवित्रम् । धूयते अनेन इति धवित्रं व्यजनम् ।

जय जय तन्त्रनिरूपणतत्पर,
जय जय योगविकस्वरधाम ।
जय जय मदनमहाभटभञ्जन,
जय जय पूरितपूजककाम ॥ ७ ॥
जय जय गङ्गाधर विश्वेश्वर,
जय जय पतितपवित्रविधान ।
जय जय वंवंनाद कृपाकर,
जय जय शिव शिव सौख्यनिधान ॥ ८ ॥

७– तन्त्राणां शिवशक्तिमुखोद्गतानाम्, निरूपणे सम्यक् प्रकाशने, तत्परं आसक्तम् । स्वयमद्वितीयो भवन्नपि परमशिवः प्रकाशविमर्शरूपं द्विविधं विग्रहं विरचितवान् । तत्र विमर्शांशेन प्रश्नः प्रकाशांशेन च तदुत्तरमित्येवंरूपेण तन्त्राणामर्धनारीश्वरमुखादाविर्भावः । तथाचोक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे–

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥' इति ।

तथा–

तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ॥' इति ॥

तदेवं भेद–भेदाभेद– अभेदप्रतिपादकतया शिव-रुद्र-भैरवाख्यं इदं शास्त्रं त्रिधा समुद्भूतमिति तात्पर्यम् ।

योगेन चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण विकस्वरं विकशनशीलं धाम पदं यस्य तथाभूतः । मदनः कामदेवः स एव लोकस्य अजेयतया महाभटः अत्युग्रपराक्रमो वीरः तस्य भञ्जनः मानभङ्गकरः । पूरितः पूर्णतां नीतः, पूजकस्य अर्चनतत्परस्य कामः मनोरथं येन सः ।

८– धरतीति धरः पचाद्यच् । गङ्गायाः धरः धारकः । विश्वेषां ईश्वरः स्वामी विश्वेश्वरः । पतितानां लोक-परलोकभ्रष्टानां वर्णाश्रमबहिर्भूतानां वा पवित्रं

य इमं शिवजयवादमुदारं
पठति सदा शिवधाम्नि ।
तस्य सदाशिवशासनयोगा-
न्माद्यति संपन्नाम्नि ॥ ६ ॥

॥ इति शिव-गाथा ॥

पूतं विधानं विधिरूपेण स्थितम् । सुखस्य भावः सौख्यम् । भोगमोक्षोभयात्मकं यत् स्वान्तःसुखम्, तस्य निधानं निधिरूपेण वर्तमानम् ।

६-यो जनः इमं प्रकृतं मदुक्तं उदारं उदारभावेन शुद्धान्तःकरणेन च रचितं, शिवस्य सर्वलोकगुरोः जयवादं जयजयेति शब्दैः प्रतिपदमुदीरितं वादं गुणानुवादरूपं आरात्रिकं, सदा अविच्छिन्नतया शिवधाम्नि शिवालये शिवसन्निधाने वा पठति अर्थानुसन्धानपुरस्सरं उच्चरति । तस्य नाम्नि नामोच्चारसमकालमेव, सदाशिवस्य करुणैकधाम्नः शंकरस्य, शासनयोगात्-शासनं आज्ञाप्रदानं तस्य योगात् संबन्धघटनात् । संपत् सर्वविधा अपि संपत्तिः माद्यति मोदमुपयाति ।

॥ इति शिव-गाथा ॥

१-अरात्र्यापि निर्वृत्तं आरात्रिकम् नीराजनम् । ठञ् । 'आरती' इति लोके प्रसिद्धम् । दीपं हि निश्येव प्रदर्श्यते, इदं पुनर्दिनेऽपि दर्श्यते । तन्निमित्तकः स्तुतिपाठोऽप्युपचारादारात्रिकमित्युच्यते । अयमत्र विशेषः—

'ततश्च मूलमन्त्रेण दत्वा पुष्पाञ्जलित्रयम् ।
महानीराजनं कुर्यात् महावाद्यजयस्वनैः ॥
प्रज्वालयेत्तदर्थं च कर्पूरेण घृतेन वा ।
आरात्रिकं शुभे पात्रे विषमानेकवर्त्तिकम् ॥ इति ।

अन्यच्च—

'आदौ चतुष्पादतले च विष्णो
र्द्वौ नाभिदेशे मुखमण्डलैकम् ॥
सर्वेषु चाङ्गेषु च सप्तवारा-
नारात्रिकं भक्तजनस्तु कुर्यात् ॥' इति ।

प्रायेण तत्तद्देशभाषास्वेव देवानामारात्रिकानि सुप्रसिद्धानि सन्ति । देववाण्यां पुनरेषां विरलः प्रचारो दृष्टः । प्रकृता शिव-गाथाप्यारात्रिकभावमधुरा परं मनस्तोषं जनयति ।

सरयू-सुधा ।

तेऽन्तः सत्त्वमुदश्चयन्ति रचयन्त्यानन्दसान्द्रोदयं
दौर्भाग्यं दलयन्ति निश्चलपदः संभुञ्जते संपदः ।
शय्योत्थायमदभ्रभक्तिभरितश्रद्धाविशुद्धाशया
मातः ! पातकपातकर्त्रि ! सरयु ! त्वां ये भजन्त्यादरात् ॥ १ ॥
किं नागेशशिरोवतंसितशशिज्योत्स्नाछटा संचिता
किं वा व्याधिशमाय भूमिवलयं पीयूषधाराऽऽगता ।

सरयू-सुधा ।

१-हे मातः ! पातकपातकर्त्रि ! सरयु ! पातयति अधो गमयति इति पातकम् । पातित्यसंपादकं पापम् । तस्य पातं पातनं करोति इति तत्संबोधनम् । ये जनाः लोकाः, त्वाम् भवतीम् । शय्योत्थायं शय्योत्त्थानादुत्तरक्षणे । 'अपादाने परीप्सायाम्' (पा. सू. ३. ४. १२) इति णमुल् । परीप्सा त्वरा । एवं नाम त्वरते यदवश्यं कर्तव्यमपि नापेक्षते, केवलं शय्योत्त्थानमात्रमपेक्षते । अदभ्रभक्तिभरितश्रद्धाविशुद्धाशयाः । अदभ्रा प्रचुरा या भक्तिः अनुरागबाहुल्यम्, तया भरिता परिपूर्णा या श्रद्धा आदरातिशयः, तया विशुद्धः अतिविमलः आशयः चेतो येषां ते तादृशाः सन्तः । आदरात् सन्मानबुद्ध्या भजन्ति स्नानादिना त्वदुत्सङ्गं सेवन्ते । ते अन्तः हृदयधाम्नि सत्त्वं सीदन्त्यस्मिन् गुणाद्याः इति सत्त्वम् बलादिकम् । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः ।' इति मेदिनी । उदश्चयन्ति वर्धयन्ति । आनन्दस्य प्रमोदस्य यः सान्द्रः निविडः, उदयः उल्लासः तम् । रचयन्ति संपादयन्ति । दुर्भाग्यस्य भावो दौर्भाग्यम् दुर्दैवं दलयन्ति खण्डयन्ति । निश्चलपदः निश्चलं स्थिरं पदं यासां ताः । संपदः नानाविधानि वैभवानि । संभुञ्जते आस्वदन्ते । 'भुजोऽनवने' (पा. सू. १. ३. ६६) इति कर्तरि तङ् । इह उपभोगो भुजेरर्थः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

२-किं नागेशस्य सरयूतटमलङ्कुर्वाणस्य ज्योतिर्लिङ्गस्य शिवस्य । 'नागेशं दारुकावने' इति शिवपुराणात् । भवति चात्र नागेश्वरमहिमावेदकं मामकं पद्यम्-

उत्फुल्लामलपुण्डरीकपटलीसौन्दर्यसर्वंकषा
मातस्तावकवारिपूरसरणिः स्नानाय मे जायताम् ॥ २ ॥
अश्रान्तं तव संनिधौ निवसतः कूलेषु विश्राम्यतः
पानीयं पिबतः क्रियां कलयतस्तत्त्वं परं ध्यायतः ।
उद्यत्प्रेमतरङ्गभंगुरदृशा वीचिच्छटां पश्यतो
दीनत्राणपरे ! ममेदमयतां वासिष्ठि ! शिष्टं वयः ॥ ३ ॥

विद्योतते यदुपकण्ठमुदारधाम्नि
नागेश्वरः स भगवान् दयमानमूर्तिः ।
यो गञ्जनाद-सरयू-जल-विल्वपत्रै-
रभ्यर्च्यते जनतया नतया समन्तात् ॥'

शिरसि मूर्ध्नि अवतंसितस्य विभूषितस्य शशिनः ज्योत्स्नाछटा चन्द्रिका-प्रवाहः । संचिता राशीभूता । किं वा व्याधीनां पञ्चभूतशरीरात्प्रभवन्तीनां शमाय दलनाय । पीयूषस्य धारा सुधारसप्रवाहः । भूमिवलयं वसुधामण्डलं आगता संप्राप्ता । उत्फुल्ला विकसिता, अमला मनोहारिणी च या पुण्डरीकस्य सिताम्भोजस्य, पटली समवायः, तस्याश्च यत् सौन्दर्यं लावण्यं, तं सर्वं कषति सर्वातिरेकमानयति इति तथाभूता । हे मातः ! जननि ! तावकं भवत्याः यत् वारिपूरं अपां राशिः तस्य च या सरणिः प्रवाहः सा । मे स्नानाय अन्तर्बाह्यमलोत्सादनपुरस्सरं अवगाहनाय जायताम् संपद्यताम् ।

३–हे वासिष्ठि ! वसिष्ठस्य इयं वासिष्ठी तत्संबुद्धिः । वसिष्ठतनयात्वेन भूवलयमवतीर्णे । दीनानां दुर्बलात्मनां त्राणपरे रक्षणोद्यते । अश्रान्तं निरन्तरं यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम् । तव सन्निधौ भवत्याः समीपे, निवसतः निवासं कुर्वतः । कूलेषु उभयतीरेषु विश्राम्यतः सुलभं निद्रासुखमश्नतः । पानीयं सलिलं पिबतः आस्वादयतः । क्रियां सन्ध्योपासनादिदेवपूजान्तं व्यापारं, कलयतः अनुतिष्ठतः । परं तत्त्वं नामविकारवर्जं प्रत्यगात्मस्वरूपं ब्रह्मपदाभिधेयम् । ध्यायतः अन्तर्भावयतः । उद्यत्प्रेमतरङ्गभंगुरदृशा उद्यन्तः उदयं गच्छन्तः प्रेमाण एव तरङ्गाः, तैः भंगुरा वक्रा या दृक् दृष्टिः, अपाङ्गप्रेक्षितं वा तया । वीचीनां इतस्ततो लुठन्तीनां ऊर्मीणां छटा सौन्दर्यं तां पश्यतः अवलोकयतः । मम स्तुति-कर्तुः, इदं शिष्टं अवशिष्टं वयः आयुष्यं अयताम् समाप्तिमापद्यताम् ।

गङ्गा तिष्यविचालिता रविसुता कृष्णप्रभावाश्रिता
क्षुद्रा गोमतिका परास्तु सरितः प्रायो यमाशां गताः ।
त्वं त्वाकल्पनिवेशभासुरकला पूर्णेन्दुबिम्बोज्ज्वला
सौम्यां संस्थितिमातनोषि जगतां सौभाग्यसंपत्तये ॥ ४ ॥

मज्जन्नाकनितम्बिनी-स्तनतटाभोगस्खलत्कुङ्कुम-
क्षोदामोदपरम्परापरिमिलत्कल्लोलमालावृते ।

४-गङ्गा सुरदीर्घिका । तिष्येन कलिकालेन । 'तिष्यः पुष्ये कलियुगे' इत्यमरः । विचालिता विशेषतोऽन्यथाभावं प्रापिता । उक्तञ्च पौराणिकैः-

'कलौ पञ्चसहस्राणि विष्णुस्तिष्ठति मेदिनीम् ।
तदर्धं जाह्नवीतोयं तदर्धं ग्रामदेवताः ॥' इति ।

रविसुता यमुना । कृष्णस्य भगवतः प्रभावं सामर्थ्यं आश्रिता प्रपन्ना । कृष्णैकवशंवदा इत्यर्थः ।

गोमतिका गोमतीनाम्नी सरित् । अल्पार्थे कन् । क्षुद्रा दुर्बलाङ्गी । आसामेव तिसृणां उत्तरभारते अवस्थानात् । पराः आभ्यः अतिरिच्यमानाः, सरितः नद्यः, यमाशां दक्षिणां दिशं गताः सङ्गताः । त्वम् भवती एव एका । आकल्पनिवेशभासुरकला-कल्पान्तमभिव्याप्य वर्तते इत्याकल्पं 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (पा. सू. २. १. १३) इति समासः । तादृशं यो निवेशः सन्निवेशः । तेन भासुरा दीप्तिशीला कला उदयो यस्याः तथाभूता । पूर्णेन्दुः राकासुधाकरः तस्य बिम्बवत् किरणजालवत् उज्ज्वला शुभ्रा । जगतां लोकानां सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य या संपत्तिः प्राचुर्यम् तस्यै । सौम्यां स्वभावमधुराम् । संस्थितिं अवस्थानम् । आतनोषि विस्तारयसि । आङ् पूर्वात् तनोतेः कर्तरि लट् ।

५-मज्जन्त्यः स्नानं कुर्वत्यः, याः नाकस्य स्वर्लोकस्य, नितम्बिन्यः देवाङ्गनाः, तासां स्तनतटस्य कुचकुड्मलस्य य आभोगः परिपूर्णता, तस्मात् स्खलत् निर्यत् यः कुङ्कुमस्य केशरस्य क्षोदः चूर्णम् । तस्य आमोदपरम्पराभिः सुरभिसंतानैः परिमिलन्त्यः परस्परं सम्पर्कमनुभवन्त्यः याः कल्लोलमालाः तरङ्गाणां ततयः । ताभिः आवृते समन्तात् परिवेष्टिते । हे मातः ! ब्रह्मणः परमेष्ठिनः

मातर्ब्रह्मकमण्डलूदकलसत्सन्मानसोल्लासिनि !
त्वद्वारां निचयेन मामकमलस्तोमोऽयमुन्मूल्यताम् ॥ ५ ॥
इष्टान् भोगान् घटयितुमिवागाधलक्ष्मी परार्ध्या
वातारब्धस्फुरितलहरीहस्तमावर्तयन्ती ।
गन्धद्रव्यच्छुरणविकसद्वारिवासो वसाना
सा नः शीघ्रं हरतु सरयूः सर्वपापप्ररोहान् ॥ ६ ॥
जयति विपुलपात्रप्रान्तसंरूढगुल्म-
व्रततिततिनिबद्धारामशोभां श्रयन्ती ।

कमण्डलोः, कस्य जलस्य मण्डं स्तरं लाति लभते वा इति कमण्डलुः । कुण्डीभूतो जलपात्रविशेषः । य एकान्तत इदानीं चतुर्थाश्रमिणां स्नेहपात्रीभूतः । तस्य उदकेन जलेन लसन् सतां मानसस्य उल्लासः आह्लादः अस्ति अस्यामिति तत्संबोधनम् । त्वद्वारां अपां, निचयेन सलिलराशिना । अयं मामकः मदीयः मलस्तोमः बाह्याभ्यन्तरो मलपटलः । उन्मूल्यताम् निरवशेषं विधीयताम् । उत्पूर्वकात् मूलयतेः कर्मणि लोट् ।

६–या इष्टान् मनसः प्रियान् । भोगान् ऐहिकामुष्मिकान् सौख्योपभोगान् । घटयितुं सम्पादयितुमिव । परार्ध्या श्रेष्ठतमा । अगाधा अननुमेया च लक्ष्मीः साक्षान्महालक्ष्मीरूपेणाविर्भूतेत्यर्थः । वातेन मरुता आरब्धाः प्रवर्तिताः, याः स्फुरिताः चञ्चलाः लहर्यः कल्लोला एव हस्ताः यस्मिन्निति क्रियाविशेषणम् । तद् यथा स्यात् तथा आवर्तयन्ती अम्भसां भ्रमणं प्रवर्तयन्ती । गन्धद्रव्येण चन्दनादिसुगन्धद्रव्यजातेन यत् छुरणं सम्पर्कः, तेन विकसन् बहिरुल्लसन् यो वारिवासः सलिलरूपं परिधान वस्त्रम् , तस्मिन् वसाना वसनमाचरन्ती । 'वस आच्छादने' इत्यतः कर्तरि शानच् । सा सुप्रसिद्धा सरयूः । सर्वान् ज्ञाताज्ञातान् । पापप्ररोहान् पापांकुरान् । शीघ्रं द्रुतं, हरतु दूरीकरोतु ।

७- विपुलं विशालं यत् पात्रं तीरद्वयान्तरम् । यथाह विश्वः-

'पात्रं तु भाजने योग्ये पात्रं तीरद्वयान्तरे ।
पात्रं स्रुवादौ पर्णे च राजमन्त्रिणि चेष्यते' ॥ इति ।

तस्य प्रान्ते प्रदेशे, संरूढः प्ररोहं गतो, यो गुल्मः अप्रकाण्डः स्तम्बः मूल-

निशि शशिकरयोगात्सैकतेऽप्यम्बुसत्तां
सपदि विरचयन्ती साऽपगावैजयन्ती ॥ ७ ॥

अंहांसि नाशयन्ती घटयन्ती सकलसौख्यजालानि ।
श्रेयांसि प्रथयन्ती सरयूः साकेतसंगता पातु ॥ ८ ॥

य इमकं सरयूस्तवकं पठेन्निबिडभक्तिरसाप्लुतमानसः ।
स खलु तत्कृपया सुखमेधतेऽनुगतपुत्रकलत्रसमृद्धिभाक् ॥९॥

॥ इति सरयू-सुधा ॥

ग्रन्थिर्वा । व्रततीनां लतानां ततिः विस्तारः 'ततं व्याप्ते विस्तृते च' इति मेदिनी । तया निबद्धः परिवेष्टितो, य आरामः उपवनम्, तस्य शोभां सुषमां श्रयन्ती दधती । निशि रात्रौ, शशिकराणां चन्द्रकिरणानां, योगात् संपर्कात्, सैकते वालुकामये प्रदेशे अपि 'सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । अम्बुसत्तां जलावस्थानभ्रमं सपदि सद्यः विरचयन्ती घटयन्ती । सा लोकप्रसिद्धा आपगानां नदीनां वैजयन्ती पताका जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । मालिनी छन्दः ।

८-अंहांसि कल्मषानि, नाशयन्ती प्रक्षालयन्ती । सकलानि समग्राणि यानि सौख्यानां अन्तःकरणानुकूलतया वेदनीयानां, जालानि वृन्दानि, तानि घटयन्ती संपादयन्ती । श्रेयांसि मङ्गलानि प्रथयन्ती विस्तारयन्ती । साकेते रामस्य राजधान्यां अयोध्यायां, संगता समायाता, सरयूः पातु अवतु । 'पा रक्षणे' कर्तरि लोट् । आर्या-वृत्तम् ।

९-यः इमकं इमम् । 'अव्ययसर्वनाम्नामित्यकच्' । निबिडः सान्द्रः यो भक्तिरसः श्रद्धापीयूषम्, तेन आप्लुतं आर्द्रीकृतं मानसं यस्य तथाभूतः सन् । सरय्वाः स्तवकं स्तवम् पूर्ववदकच् । पठेत् पाठं कुर्यात् । स खलु तस्याः कृपया, अनुगतपुत्रकलत्रसमृद्धिभाक् अनुगताः आज्ञावर्तिनः, ये पुत्राः आत्मजाः, कलत्राणि गृहिण्यश्च, समृद्धिः स्फारमैश्वर्यम् । एताः भजते इति तथाविधः सन् । सुखं यथा स्यात् तथा एधते वृद्धिमुपगच्छति ।

॥ इति सरयू-सुधा ॥

गोमती-महिमा ।

मातर्गोमति ! तावकीनपयसां पूरेषु मज्जन्ति ये
तेऽन्ते दिव्यविभूतिसूतिसुभगस्वर्लोकसीमान्तरे ।
वातान्दोलितसिद्धसिन्धुलहरीसंपर्कसान्द्रीभवन्
मन्दारद्रुमपुष्पगन्धमधुरं प्रासादमध्यासते ॥ १ ॥
आस्तां कालकरालकल्मषभयाद् भीतेव कार्श्यं गता
मध्येपात्रमुदूढसैकतभराकीर्णाऽवशीर्णामृता ।

गोमती-महिमा ।

हे मातः ! गोमति ! तावकीनपयसां त्वदीयसलिलानां पूरेषु प्रवाहेषु ये मज्जन्ति स्नानमाचरन्ति । 'टुमस्जो शुद्धौ' इत्यतः कर्तरि लट् । ते अन्ते देहपातानन्तरम् । दिवि भवाः दिव्याः, स्वर्गलोकभवाः या विभूतयः ऐश्वर्याणि, तासां च या सूतिः प्रसवः तया सुभगो रमणीयः यः स्वर्लोकः देवभूमिः तस्य सीमायाः अन्तरे मध्ये । वातेन पवनेन, आन्दोलिताः कम्पिताः, याः सिद्धसिन्धोः वियद्गङ्गायाः, लहर्यः तासां संपर्केण सान्द्रीभवन् घनीभावं गच्छन् । यो मन्दारद्रुमः पारिजातवृक्षः, तस्य पुष्पगन्धेन कुसुमसौरभेण, मधुरं हृद्यं, प्रासादं हर्म्यं अध्यासते अधितिष्ठन्ति । तवायं अपूर्वः कोऽपि महिमा इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

२– कालस्य अन्तकस्य यत् करालं भयानकं कल्मषं पापं तस्य भयात् । भीता इव त्रस्तेव, कार्श्यं कृशस्यः भावः तम् । दौर्बल्यं गता आस्ताम् तिष्ठतु तावत् । मध्येपात्रं जलाधारभूमेरन्तराले उरूढः राशीभूतः । उत्पूर्वात् 'वह प्रापणे' इति क्तः । यः सैकतस्य वालुकायाः भरः अतिशयः, तेन आकीर्णा समन्ततो व्याप्ता । आङ्पूर्वात् किरतेः क्तः, निष्ठानत्वञ्च । अतएव अवशीर्णं शुष्कतां गतं अमृतं जलं यस्याः सा । गङ्गा भागीरथी, यमुना कलिन्दतनया वा । नितान्तविषमां अतितरां शोचनीयां, काष्ठां दशां समालम्भिता प्रापिता । समाङ्पूर्वात् लभतेर्ण्यन्तात् क्तः । हे मातः ! जननि ! त्वं भवती तु, समा समाना, वैषम्यरहिता आकृतिः स्वरूपं यस्याः तथा भूता खलु । यथापूर्वं प्रागिव अधुनापि, वरीवर्तसे अवस्थितिं भजसे ।

गङ्गा वा यमुना नितान्तविषमां काष्ठां समालम्भिता-
मातस्त्वं तु समाकृतिः खलु यथापूर्वं वरीवर्तसे ॥ २ ॥

या व्यालोलतरङ्गबाहु विकसन्मुग्धारविन्देक्षणं
भौजङ्गीं गतिमातनोति परितः साध्वी परा राजते ।
पीयूषादपि माधुरीमधिकयन्त्यारादुदाराशया
साऽस्मत्पातकसातनाय भवतात्स्रोतस्वती गोमती ॥ ३ ॥

कुम्भाकारमुरीकरोषि कुहचित्क्वाप्यर्धचन्द्राकृतिं
धत्से भूतलमानयष्टिघटनामालम्बसे कुत्रचित् ।

३– येति कर्तृपदम् । व्यालोलाः अतिचञ्चलाः तरङ्गाः कल्लोला एव बाहू यस्मिन् तदिति गतेर्विशेषणम् । विकसत् यत् मुग्धं सुन्दरं अरविन्दं रक्तोत्पलं तदेव ईक्षणं नयनं यस्मिन् तादृशम् । भुजङ्गो जारः, तस्य इयं भौजङ्गी ताम् । कुलटाजनोचितां गतिं प्रवृत्तिं आतनोति रचयति । परितः समन्ततः परा उत्कृष्टा साध्वी सच्चरित्रा कुलवधूरिव राजते शोभते । 'राजृ दीप्तौ' इत्यतः कर्तरि लट् । या हि कुलटा न सा साध्वी भवितुमर्हति इति विरोधाभासो नामात्र अलङ्कारः । तत्परिहारप्रकारस्तु–भुजङ्गः सर्पः, स इव कुटिला वक्रा गति गमनं यस्याः सा तथाभूतेत्यर्थाश्रयणात् । एवं परत्र साध्वी मनोहरा इत्यर्थकल्पनाच्च । उदारः कृपामसृणः आशयः आकूतं यस्याः सा तथाभूता सती । आरात् समीपतः । पीयूषात् अमृतरसादपि माधुरीं जलगतं माधुर्यं अधिकयन्ती अधिकमधिकं वर्धयन्ती । 'तत्करोतीति णिच् । सा स्रोतस्वती वेगवती, गोमती अस्मत्पातकस्य दुरितजातस्य, सातनाय तनूकरणाय, भवतात भूयात् ।

४– कुहचित् कस्मिंश्चित् स्थले, कुम्भाकारं कुम्भो घटः स इव आकारं स्वरूपं उरीकरोषि अङ्गीकरोषि । कुम्भसदृशं प्रवहन्ती दृश्यसे इत्यर्थः । क्वापि अर्धचन्द्राकृतिं अर्धचन्द्रखण्डमिव आकारं धत्से धारयसि । कुत्रचित् भूतलस्य भूमण्डलस्य मानयष्टिः मानदण्डम् । तस्याः घटनां आकारं आलम्बसे प्रपद्यसे । क्वापि अन्तः स्वक्रोडे तडागस्य वर्तनतया संस्थापकतया सिद्धाश्रमं सिद्धः सद्यः सिद्धिप्रदो य आश्रमः तम् । सिद्धिभूमिं सूयसे प्रकटीकरोषि । अस्या

अन्तः क्वापि तडागवर्तनतया सिद्धाश्रमं सूयसे
मातर्गोमति ! यातभङ्गिविधया नानाकृतिर्जायसे ॥ ४ ॥
रोधोभङ्गिनिवेशनेन कुहचिद्वापीयसे पीयसे
क्वाप्युत्तालतटाधराम्बुकलया कूपायसे पूयसे ।
मातस्तीरसमत्वतः क्वचिदपां गर्तायसे त्रायसे
कुत्रापि प्रतनुस्पदेन सरितो नालीयसे गीयसे ॥ ५ ॥
तानासन्नतरानपि क्षितिरुहो याः पातयन्ति क्षणा-
त्तास्वर्थो घुणकीर्णवर्णघटनन्यायेन संगच्छताम् ।

उपकण्ठे विभ्राजमानं चण्डिकायतनं सिद्धाश्रमतया लोके प्रसिद्धमित्यादि पुरावृत्तं चण्डिका-स्तुतौ विवृतं तत एव द्रष्टव्यम् । हे मातः गोमति ! यातस्य गतागतस्य या भङ्गिः रचनाविच्छित्तिः, तस्याश्च या विधा प्रकारः, तया नानाकृतिः विविधाकाररमणीया जायसे संपद्यसे ।

५– रोधसः तीरस्य 'कूलं रोधश्च तीरंच प्रतीरं च तटं त्रिषु ।' इत्यमरः । या भङ्गिः रचना, तस्याः निवेशनेन विन्यासेन कुहचित् कुत्रचित्, वापीयसे वापीमिव आचरसि । वापी इव परं गाम्भीर्यं धारयसि इत्यर्थः । वापी नाम जलाशयविशेषः । 'वापीं स्नातुमितो गतासि' इति काव्यप्रकाशः । पीयसे जनैः आस्वाद्यसे च । क्वापि उत्तालं उच्छ्रितं, यत् तटं तीरं, तस्य अधरे तले अम्बुकलया जलसमृद्ध्या कूपायसे कूपसदृशं आकारं प्रपद्यसे । पूयसे लोकान् पवित्रीकरोषि । हे मातः ! तीरस्य समत्वतः, समभागावस्थानात्, क्वचित् अपां-जलानाम् । संबन्धसामान्ये षष्ठी । गर्तः भूछिद्रं खातं वा । स इव आचरसि गर्ताकारेण परिणमसि । त्रायसे रक्षां करोषि । कुत्रचित् पदेन जलसन्निवेशेन प्रतनुः विशेषतः कृशशरीरा सती, सरितः नद्याः, नाली इव जलनिर्गममार्ग इव आचरसि । गीयसे जनैः प्रशस्यसे च ।

६– याः स्रोतस्विन्यः सरितः, आसन्नतरानपि तीरसंश्लिष्टानपि किं पुनर्दूरगतानित्यर्थः । तान् सच्छायान् । क्षितिरुहः वृक्षकदम्बकान् । क्षणात् निमेषमात्रादेव, पातयन्ति धराशायिनं कुर्वन्ति । तासु घुणकीर्णवर्णघटनान्यायेन घुणाः काष्ठादिभक्षकाः कृमिविशेषाः, तैः कीर्णा दष्टतया उत्कीर्णा या वर्णानां

गोमन्ताचलदारिके ! तत्र तटे तूद्यल्लतापादपे
सद्यो निर्वृतिमेति भक्तजनता तामैहिकामुष्मिकीम् ॥ ६ ॥

एतत्तापनतापतप्तमुदकं माभूदितीवान्तिके
माद्यत्पल्लवतल्लजद्रुमतती यत्रातपत्रायते ।
मातः ! शारदचन्द्रमण्डलगलत्पीयूषपूरायिते ।
शय्योत्थायमजस्रमाह्निककृते त्वां बाढमभ्यर्थये ॥ ७ ॥

एकं चक्रमवाप्य तत्रभवतो दाक्षायणीवल्लभा-
द्देवो दैत्यविनाशकस्त्रिभुवने स्वास्थ्यं समारोपयत् ।

अक्षराणां घटना निष्पत्तिः । तन्न्यायेन, अर्थात् लोकप्रसिद्धेन घुणाक्षरन्यायेन । अर्थः प्रयोजनं, सङ्गच्छतां संघटतां नाम । अप्रयासोपनतं कदाचिदेतदेवं सम्भाव्यतां न पुनः सार्वत्रिकमिति भावः । हे गोमन्ताचलदारिके ! गोमन्ताचलस्य एतन्नाम्ना प्रसिद्धस्य शैलस्य दारिके तनये । उद्यन्त्यः उदयं गच्छन्त्यः प्ररोहन्त्यो वा लताः पादपाश्च यस्मिन् । तथाभूते तत्र तटे भक्तजनता श्रद्धालुलोकः । तां ऐहिकीं इह लोकभवां । आमुष्मिकीं परलोकभवां च । सद्योनिर्वृतिं स्नानसमकालमेव संसारिकं सुखं मुक्तिपदञ्च । एति अधिगच्छति ।

७–तापनः सहस्ररश्मिः सूर्यः, तस्य तापेन ऊष्मणा संतप्तं उष्णं एतत् उदकं पानीयं मा भूत् नैव जायताम् । इतीव एवं मत्वैव, माद्यन्ती हर्षोल्लासमधिगच्छन्ती, पल्लवतल्लजानां कोमलकिसलयानां, द्रुमाणां वृक्षाणां च तती पङ्क्तिः यत्र यस्याः तीरोपान्ते, आतपत्रायते आतपात् त्रायते इत्यातपत्रम् छत्रम् । तदिव आचरति । कूलस्थिताभिःवृक्षश्रेणीभिश्छत्रच्छायामिव तन्वतीमित्याशयः । हे मातः ! शारदचन्द्रस्य स्फीतप्रकाशस्य शरत्कालिकस्येन्दोः मण्डलात्, गलत् स्रवत् यत् पीयूषपूरं अमृतस्य निष्यन्दः, तदाकारतां गते । अजस्रं निरन्तरं, शय्योत्थायं प्रातःप्रबोधसमयादुत्तरक्षणे एव । आह्निकस्य अह्ना साध्यं आह्निकम्, ठञ् । स्नान-सन्ध्या-तर्पणादिसंपादनार्थं त्वां भवतीम् । बाढं अत्यन्तं अभ्यर्थये संप्रार्थये । प्रत्यहं तवतीरमुपाश्रितस्य मम अशेषमाह्निकं संपद्यतामिति भावः ।

८–दैत्यानां असुराणां, विनाशकः संहारकः, देवः भगवान् विष्णुः । तत्रभवतः सर्वलोकपूज्यात् दाक्षायणीवल्लभात्–दाक्षायणी पार्वती, तस्याः वल्लभः

तच्चक्रं त्वयि भासतेऽपि वहुधा निश्चक्रमंहोपहा
यत्त्वं दीव्यसि तत्तवैष महिमा चित्रायते त्रायिनि ! ॥ ८ ॥

ये गोमतीस्तुतिमिमां मधुरां प्रभाते
संकीर्तयेयुरुरुभक्तिरसाधिरूढाः ।
तेषां कृते सपदि सा शरदिन्दुकान्ति-
कीर्तिप्ररोहविभवान् विदधाति तुष्टा ॥९॥

॥ इति गोमती-महिमा ॥

धवः शिवः तस्मात् । एकं अद्वितीयप्रभावं चक्रं सुदर्शनाख्यम् । यच्चैवमुपवर्ण्यते शिशुपालवधे–

'तस्यातसीसूनसमानभासो
भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
चक्रेण रेजे यमुनाजलौघः
स्फुरन्महावर्त इवैकबाहुः ॥'

अवाप्य अधिगम्य, त्रिभुवनं त्रीनपि लोकान् । स्वास्थ्यं आधिव्याधिरहिततया सुखसौभाग्ययुक्तम् । समारोपयत् प्रातिष्ठिपत् । समाङ् पूर्वात् रुहधातोर्ण्यन्तात् कर्तरि लङ् । त्वयि भवति तत् सुप्रसिद्धं चक्रं जलावर्तः वहुधा नानारूपेण भासते विद्योतते । यतः निश्चक्रं निर्गतं चक्रं यस्याः तथाभूता सती चक्रं विनैवेत्यर्थः । अंहोपहा अंहासि पापानि अपहन्ति तथाभूता त्वं भवती, यत् दीव्यसि भासि, तत् तव भवत्या एव महिमा भूतिप्रकर्षः । हे त्रायिनि ! रक्षापरायणे ! चित्रं आश्चर्यं आचरति इति चित्रायते- आश्चर्यं जनयति भवती । अर्द्धर्चादिपाठात् चक्रशब्दस्य द्विलिङ्गत्वेऽपि लक्ष्यानुसारेण लिङ्गनियम इत्यवसेयम् ।

९- ये जनाः, प्रभाते अरुणोदयवेलायां, उरुभक्तिरसेन हार्दिकेन अनुरागरसेण । अधिरूढाः आप्लुताः सन्तः, इमां मद्भाषितां गोमतीस्तुतिं संकीर्तयेयुः कण्ठपाठं पठेयुः । तेषां कृते सा सपदि झटित्येव तुष्टा प्रसन्ना सती । शरदिन्दोः शारदचन्द्रिकायाः कान्तिरिव कमनीयं, कीर्तेः यशसः, प्ररोहान् अंकुरान्, विभवान् सम्पदश्च विदधाति संपादयति । वसन्ततिलका-वृत्तम् ।

॥ इति गोमती-महिमा ॥

यमुना-कुलकम् ।

चिरगृहीतजगत्तमसो रवे-
जनितया प्रसृतेव तमश्छटा ।
घनतमालसपत्नसमुच्छल-
ल्लहरिका हरिकामितगोपिका ॥१॥

यमुना-कुलकम्[1] ।

१- चिरं चिराय गृहीतं निपीतं जगतो विश्वसर्गस्य तमः अन्धकारप्रसरो येन तस्य । रवेर्विशेषणमेतत् । एवंविधस्य भगवतः सप्तसप्तेः जनितया कन्यारूपेण अवतीर्णया । अतएव तमसः घनान्धकारस्य छटा इव प्राग्भार इव, प्रसृता स्रोतोरूपेण परिणता इत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते । उक्तञ्च दण्डिना-

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इति ।

घनः नीरन्ध्रः यस्तमालः हरितवर्णस्तमालपादपः तस्य सपत्नत्वेन प्रतिभटतया समुच्छलन्त्यः अम्बुकणैरुत्पतन्त्यः । लहर्य एव लहरिकाः स्वार्थे कन् । तरङ्गसंततयो यस्यां सा, तथाभूता । हरेः यदुवंशमुक्तामणेः कृष्णाख्यधाम्नः कामितं हृदयाभिलषितं गोपायति रहस्यवद्रक्षतीति तथाभूता । भगवतो लीलाविलसितस्य आश्रयभूरिति तात्पर्यम् । द्रुतविलम्बितं छन्दः । इत आरभ्य मथुरा-माधुरी पर्यन्त

१-एकवाक्यतापन्नः श्लोकसमुदायः कुलकमित्युच्यते । यथा समन्वयप्रदीपे-

'यत्र वाक्यार्थविश्रान्तिः श्लोकेनैकेन जायते ।
तन्मुक्तकं युगं द्वाभ्यां त्रिभिः स्यात्तिलकं पुनः ॥
चतुर्भिः स्याच्चक्कलकं पञ्चभिः कुलकं ततः ।
महाकुलकमित्यार्याः कथयन्तिः ततः परम् ॥' इति ।

सलिलकेलिपरायणवल्लवी-
कमनकायरुचिच्छुरणादिव ।
दलितनीलमणिच्छविसोदरी
सुरवरारवराजितवेणिका ॥ २ ॥

असितपक्षनिशाद्रिशिखास्खल-
त्तिमिरनिर्झरसंचयनादिव ।

सर्वत्र यमकं शब्दालंकारः। अर्थालंकारस्तु यथासंभवं स्वयमूहनीयः। यमकलक्षणं त्वाचार्यदण्डिनोक्तम्—

'अव्यपेतव्यपेतात्मा या वृत्तिर्वर्णसंहतेः।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम्॥
एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां प्रकल्पना।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः॥
अत्यन्तं बहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः।
सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन॥' इति।

एवमस्य प्रभूततमभेदस्य यमकालंकारस्य तत्तद्विशेषान् दिदृक्षुभिरस्मत्पितामहचरणानां साहित्यदर्पणस्य छायाख्या विवृतिपूर्तिर्द्रष्टव्या।

२– सलिलकेलिः जलक्रीडाव्यापारः, तस्यां परायणा आसक्तमना या वल्लवी गोपवधूः, तस्याश्च यः कमनः कामुकः अभिरूपो वा कायः शरीराभोगः तस्य रुचेः प्रभायाः छुरणादिव सम्पर्कादिव। दलितस्य द्विधाविभक्तस्य नीलमणेः या छविः दीप्तिः, तस्याः सोदरी सहोदरप्रसवा स्वसा इव नीलवर्णा। सुराः देवाः विद्वांसश्च तेषां ये वराः श्रेष्ठाः अभीष्टा वा आरवाः स्तवनशब्दाः तैः राजिता शोभिता वेणिका जलप्रवाहो यस्याः सा।

३– असितः सितेतरः स चासौ पक्षश्च इति असितपक्षः कृष्णपक्षः। तस्य च या निशा यामिनी सा एव अन्धकारबहुलत्वात् अद्रिः शैलः, तस्य शिखायाः शृङ्गप्रदेशात्। स्खलन् अधः प्रवहन् यः तिमिरस्य निर्झरः तमसां प्रपातः, तस्य

प्रकटिता स्फुटकालकुशेशय-
च्छविसमाऽविसमाप्रतिभासिनी ॥३॥

विकचपङ्कजकोशपरिस्रव-
न्मधुरसाश्रयणादिव सभ्रमा ।
द्युतिसवर्णतया भ्रमरभ्रमद्-
व्रजवधूजवधूतजलान्तरा ॥४॥

घनपयःपरिणामवशादिव-
प्रचुरनीलिममज्जिमभिद्रुमैः ।

संचयनात् इव राशीकरणाद् हेतोः स्फुटं विकसितं यत् कालकुशेशयं कृष्णवर्णं कमलम् । 'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । तस्य या छविः कान्तिः तत्समा तत्सदृशी । अविः छागः मेषो वा । 'अवि र्नार्वे रवौ मेषे शैले मूषिककम्बले' इति मेदिनी । तद्वत् प्रतिभासते शोभते इति अविसमाप्रतिभासिनी । छाग इव कृष्णवर्णेनोल्लसन्ती इति भावः ।

४- विकचानि विकसितानि यानि पङ्कजानि अरविन्दानि तेषां कोशैः कुड्मलैः, परिस्रवतः निष्यन्दमानस्य, मधुरसस्य पुष्परसस्य 'मधु मद्ये पुष्परसे इत्यमरः । आश्रयणात् इव संचयकरणादिव हेतोः । सभ्रमा भ्रमेण अम्भसां आवर्तेन सहिता । 'आवर्तोऽम्भसां भ्रमः ।' इत्यमरः । द्युतिः कान्तिः तस्याः सवर्णतया साम्येन । द्वयोः कलिन्दकन्यायाः आभीरवधूनाञ्च श्यामवर्णतया इत्यर्थः । भ्रमरैः मधुपश्रेणिभिः हेतुभूताभिः । भ्रमरसंपातहेतुनेति यावत् । भ्रमन्त्यः भ्रमरबाधया त्रस्यन्त्यः याः व्रजवध्वः गोपाङ्गनाः, ताभिः जवेन वेगेन धूतं कम्पितं जलान्तरं सलिलप्रवाहो यस्याः तथाभूता ।

५- घनो जलदः स इव यः पयसां अपां परिणामः नीलवर्णत्वप्राप्तिः, तद्वशादिव तस्मादिव कारणात् । यामुनं हि जलं निसर्गत एव कृष्णवर्णाभमिति भावः । प्रचुरे पर्याप्ता या नीलिमा श्यामवर्णबाहुल्यं तत्र मज्जिमभिः कृतस्नानैः । उभयतीरगतैः तटद्वयोपान्तवर्तिभिः द्रुमैः पादपैः शमितं निवारितं आतपस्य प्रस-

उभयतीरगतैः शमितातप-
प्रसरणा शरणागतवत्सला ॥५॥
सगणकालियभोगिफणैरिव
प्रकटनीलसरोरुहकोरकैः ।
परिवृतोदितवल्लवमण्डली-
रसिकता सिकताश्रितधीवरा ॥६॥
प्रविततायतसैकतकैतवा-
दमरनिम्नगयेव करम्बिता ।

रणं व्याप्तिरनया। शरणागतेषु चरणशरणं संप्राप्तेषु वत्सला वात्सल्यस्नेह-भरिता।

६– गणैः सहिताः सगणाः, तथाभूताः ये कालियभोगिनः कृष्णसर्पाः, तेषां फणैः इव प्रकटाः स्फुटं दृश्यमाणाः नीलसरोरुहाणां नीलकमलानां कोरकाः कुड्मलाः यस्यां तथाभूता। 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः। परिवृता तत्तदावश्यकीं चर्यां समाप्य नदीसंतरणादि मनोविनोदाय वर्त्तुलाकारेण संघटिता तटोपकण्ठमलङ्कुर्वाणा इति यावत्। उदिता प्रसन्नवदना या वल्लवानां आभीराणां मण्डली, तस्याः रसिका परिवृतोदितवल्लवमण्डलीरसिका, तस्याः भावः तत्ता। वल्लवसमुदायस्य रसज्ञेत्यर्थः। सिकतायां वालुकायां आश्रिताः शरणं गताः धीवराः कैवर्ताः यस्याः सा तथाभूता।

७– प्रविततं समन्ततो व्याप्तं आयतं दीर्घं च यत् सैकतं वालुकाप्रदेशः तस्य कैतवात् व्याजात् अमरनिम्नगया भागीरथ्या करम्बिता आश्लिष्टा इव। करम्बः संजातो अस्या इति इतच्। सितासिते हि गङ्गायमुने इति घण्टापथः। प्रयागादन्यत्र च नानयोः क्वचित् संगमः संभवतीति सुप्रसिद्धं तावत्। परं कवि-सृष्टिषु मथुरायामपि द्वयोः संगम उत्प्रेक्षित इति द्रष्टव्यम्। अतएव रघुवंशकारः–

'यस्यावरोधस्तनचन्दनानां
प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिंदकन्या मथुरां गतापि
गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥'

विपुलकूलविकासिगतस्पृहा-

दिकमठा कमठावलिसंकुला ॥७॥

नियमितेन्द्रियकर्मठमण्डला-

चरितसांध्यविधानविकस्वरा ।

करसरोजगृहीतघटस्फुर-

त्सुकमनीकमनीयतटान्तरा ॥८॥

इत्येवमवर्णयत् । एवं माघकविरपि रैवतकवर्णने-

'एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा

नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र ।

कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते

वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ॥'

इति भङ्ग्यन्तरेण उभयोः संगममुपवर्णितवान् ।

विपुलं विशालं यत् कूलं तटं तस्मिन् विकाशिनः सुशोभिताः । गतं प्रशान्तं स्पृहादिकं लोकैषणारूपं येषां तथाभूताः तेषाम् । विरक्तादिरूपेण वर्गीभूतानां साधूनां मठाः आवासाः यस्यां तथाभूता । कमठानां कच्छपानां या आवलिः पङ्क्तिः तया संकुला सङ्कीर्णा । 'कूर्मे कमठकच्छपौ इत्यमरः ।

८- नियमितानि निगृहीतानि इन्द्रियाणि कर्मज्ञानरूपाणि येषां ते नियमितेन्द्रियाः । तेषां संयतात्मनां, ज्ञानिनामित्याशयः । कर्मठानां कर्मशूराणां यन्मण्डलं समुदायः तेन आचरितैः यथाविधि संपादितैः । सांध्यविधानविकस्वरा-संध्यायां भवं सान्ध्यं तस्य यत् विधानं विधिः तेन विकस्वरा विकाशोन्मुखी । यथानियमं सायं प्रातः क्रियमाणेन परमेश्वरोपास्तिरूपेण संध्यावंदनादिकर्मणा प्रसन्नवदनामिवोपलक्ष्यमाणाम् । करौ हस्तौ एव कोमलतया सरोजे कमले ताभ्यां गृहीतेन धृतेन घटेन जलकलशेन स्फुरन्ती शोभामावहन्ती या सुकमनी सुन्दरी तया हेतुभूतया । कमनीयं मनोहरं तटस्य तीरस्य अन्तरं मध्यं यस्याः सा ।

अधिजलोच्छ्रितदारवपट्टिका-
तलनिविष्टयतीशपरिष्कृता ।
विकृतिभेदविजृम्भितसंहिता-
मधुरिमा धुरि मादकृतां गता ॥९॥

सरससंमिलदुन्मदमाथुरी-
प्रचुरमज्जनजर्जरितोर्मिका ।
भगवती यमुना वृजिनापहा
विजयते जयतेजनकृत् सताम् ॥१०॥

॥ इति यमुना-कुलकम् ॥

९–जलं अधि इत्यधिजलम् । सामीप्यार्थे अव्ययीभावः । जलोपकण्ठे उच्छ्रितानां औन्नत्येन स्थापितानां दारवपट्टिकानां देवदारुप्रभृतिभिःकाष्ठैर्निर्मितानां पट्टिकानां तलेषु आधारेषु निविष्टैः उपविष्टैः यतीशैः मुमुक्षुभिः परिष्कृता विभूषिता । विकृतिभेदाः जटा-मालादिरूपाः तैः । विकृतयस्त्वेवं स्मर्यन्ते–

'जटा-माला-दण्डरेखारथध्वजशिखाघनाः ।
क्रममाश्रित्य निवृत्ता विकारा अष्ट विश्रुताः ॥' इति ।

विजृम्भिता विभूषिता या संहिता यजुर्वेदादिरूपा तासां मधुरिमा मधुरस्य भावः । माधुर्यमित्यर्थः । मादकृतां मादं हर्षं कुर्वन्ति इति मादकृतः तेषां मानसोल्लासकराणामित्यर्थः । धुरि गता प्रमुखरूपतां संप्राप्ता ।

१०– सरसं यथा स्यात् तथा सम्मिलन्त्यः गाढमाश्लिषन्त्यः, उन्मदाः यौवनोन्मादमधुराः, याः माथुर्यः मथुरानिवासिन्यः योषितः, तासां प्रचुरैः यथारुचितैः, मज्जनैः जलस्नानकेलिभिः, जर्जरिताः जीर्णतां गताः ऊर्मिकाः तरङ्गावलयो यस्याः सा तथाभूता । वृजिनं पापमपहन्ति इति वृजिनापहा ज्ञाताज्ञातेभ्यः पापकर्मभ्यः सद्यो मुक्तिदायिनी । भगवती ऐश्वर्यशालिनी, यमुना कलिन्दगिरितनया, सतां सन्मार्गाश्रयिणां जयतेजनं करोति इति जयतेजनकृत् । आशु विजयप्रदा विजयते इति शिवम् ।

॥ इति यमुना-कुलकम् ॥

मथुरा-माधुरी ।

जयति सा परमाद्भुतराधिका-
रमणवृत्तपवित्रतरीकृता ।
कुसुमितद्रुमराजिविराजिता
व्रततिकाततिकापरिवेष्टिता ॥१॥

सरसरासविहाररतस्वभू-
चरणपङ्कजलाञ्छितभूतला ।
वनगुहान्तरवासकसज्जिका-
नवरता वरतामरसोदका ॥२॥

मथुरा-माधुरी ।

१–सा लोकविश्रुता, परमश्चासावद्भुतश्च परमाद्भुतः अनेकाश्चर्याणां खनिः । एवंविधो यो राधिकायाः वृषभानुसुतायाः वृन्दावनललामभूतायाः, रमणः पतिः भगवान् वासुदेवः, तस्य यत् वृत्तं लोकातिशायिचरितं, तेन सविशेषं पवित्रीकृता इति पवित्रतरीकृता । पावित्र्योत्कर्षमानीता इत्यर्थः । कुसुमिताः सपुष्पाः याः द्रुमराजयः पादपश्रेण्यः ताभिः विराजिता विभूषिता । व्रतती एव व्रततिका लताप्रतानम् । स्वार्थे कन् । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । तासां ततिकाभिः पङ्क्तिभिः परिवेष्टिता परिवृता जयति । यमकालङ्कारः । द्रुतविलम्बितं छन्दः ।

२– रसेन मधुरालापेन सहितः सरसः । एवंभूतो यो रासस्य गोपप्रियस्य क्रीडाविशेषस्य, विहारः लीलाप्रसरः तस्मिन् रतः अनुरक्तः यः स्वभूः नारायणस्वरूपः श्रीकृष्णः । स्वेनैव भवति इति स्वभूः । क्विप् । तस्य चरणपङ्कजाभ्यां पादारविन्दाभ्यां लाञ्छितं अङ्कितं भूतलं यस्याः सा तथाभूता । नास्ति अवरता यस्याः सा अनवरता उत्कृष्टा । वनञ्च गुहा चेति वनगुहे तयोः अन्तरे अरण्यपर्वतप्रदेशयोरन्तराले अपरा वासकसज्जिकेव सुशोभिता । वासकसज्जिका च– 'कुरुते मण्डनं यातु सज्जिते वासवेश्मनि । सा तु वासकसज्जा स्यात्–' इत्युक्त-

अभिनवस्फुटशाखिशिखास्खल-
त्कुसुमसंहतिसंकुलसंचरा।
नदुदारखगावलिरुच्चकै-
रुपेवना पवनाधुतपल्लवा ॥ ३ ॥
रुचिरकुञ्जगृहान्तरसंचर-
द्भुजगभोजिविकासिततााण्डवा।
विपुलसूरसुतापुलिनान्तरे
सुनयनानयनादरजृम्भिता ॥४॥
विकिरकेलिविमर्दसमुच्चर-
त्कुसुमसौरभसांद्रदिगन्तरा।

रूपो नायिकाविशेषः। वरं सुन्दरं तामरसं कमलं उदकं जलञ्च यस्यां तथा-भूता।

३– अभिनवाः नूतनाः, स्फुटाः विकसिताश्च ये शाखिनः तरवः, तेषां शिखाभिः शाखाभिः स्खलन्ती निपतन्ती या कुसुमानां संहतिः पुष्पचयः, तया संकुलः सम्बाधः संचरः संचारो यस्यां तथाभूता। नदन्ती मधुरं कूजन्ती या उदारा महती चासौ खगावलिः विहगश्रेणिः तया उच्चकैः उन्नतानि उपवनानि यस्यां तथाभूता। पवनेन वायुना आ समन्तात् धुताः कम्पिताः पल्लवाः किसलयानि यस्यां सा।

४– रुचिरं मञ्जुलं यत् कुञ्जगृहं लतामण्डपं तदन्तरे संचरन्तः इतस्ततः सञ्चारं कुर्वन्तः ये भुजगभोजिनः भुजगान् सर्पान् भुञ्जते इति भुजगभोजिनो मयूराः। तैः विकासितं प्रकाशितं ताण्डवं नृत्यं यस्यां सा। 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने' इत्यमरः। विपुलं अतिमहत् यत् सुरसुतायाः कालिन्द्याः पुलिनं तोयोत्थितं तटं तदन्तरे। शोभने नयने नेत्रे यासां तासां सुनयनानां कटाक्षवतीनां सीमन्तिनीनां, नयनादरैः अपाङ्गप्रेक्षितैः, जृम्भिता प्रसन्नवदना।

५– विकिराः विहंगाः, तेषां यः केलिविमर्दः क्रीडारसासक्ततया परस्परमुपमर्दः, तेन समुच्चरत् बहिर्निगच्छत् यत् कुसुमस्य सौरभं आमोदभरः, तेन

किमपि चेतसि नर्म वितन्वती
मुरजितोऽरजितोद्धतसंपदः ॥५॥
स्फुरितनैकविधच्छवितूलिका-
लिखितवर्णचयैर्हरिनामभिः ।
मधुरचित्रभृतासु कनत्प्रजा-
सुखचिता खचिताऽऽलयभित्तिषु ॥६॥
निविडभावसमेधितभास्वर-
स्वरजुषां रजसां तमसामपि ।
व्यतिकृतां महतां हरिकीर्तन-
ध्वनिरमा निरमानितकल्मषा ॥७॥

सान्द्रं घनं दिगन्तरं दिशामन्तरालं यस्यां तथाभूता । अरं सत्वरं जिता स्वायत्तीकृता उद्धतानां दर्पवतां रक्षसां संपत् येन सः, तस्य । मुरजितः मुरमथनस्य । मुरो नाम दैत्यविशेषः । तस्य वधात् भगवतो मुरजिदिति नाम लोके प्रसिद्धिं प्रापत् । 'पार्थेनाथ द्विपन्मुरम् ।' इति माघः । चेतसि मानसाभोगे । किमपि लोकोत्तराह्लादकरम् । नर्म क्रीडां वितन्वती विस्तारयन्ती ।

६– स्फुरिता उन्मीलिता, या नैकविधा अनेकवर्णवती । नैकविधेत्यत्र न शब्देन सह सुप्सुपेति समासः । छवेः सौन्दर्याधायकस्य रूपस्य, तूलिका कूर्चिका । शलाकेत्यर्थः । 'तूलिका कथिता लेख्यकूर्चिका तूलशय्ययोः' इति विश्वः । तया लिखितः समुत्कीर्णः वर्णचयो वर्णावलिर्येषु तथाभूतैः । हरिनामभिः विष्णुबोधकैः राम-कृष्णादिशब्दैः । खचिता संयुक्ता । मधुराणि हृदयप्रियाणि चित्राणि आलेख्यानि बिभ्रति इति मधुरचित्रभृतः तासु । मनोहराभिश्चित्रावलीभिरलङ्कृतास्वित्यर्थः । एवंभूतासु आलयानां गृहाणां भित्तिषु कुड्येषु । कनन्ती चासौ प्रजा चेति कनत्प्रजा दीप्तिमल्लोकसमूहः । तासां सुखैः सौभाग्यसूचकैः चिता व्याप्ता ।

७– निविडः सान्द्रीभूतो यो भावः श्रद्धातिशयः तेन समेधितैः दीर्घीकृतैः, भास्वरैः प्रदीप्तैः, स्वरैः वर्णोच्चारणध्वनिभिः, जुषन्ते प्रीतिमाश्रयन्ते इति निविड-

त्रिबुधसद्मसु पल्लवितोल्लस-
ल्ललितभागवतामृतसेविभिः ।
विविधभक्तजनैश्च समन्ततो
वलयिता लयितालविघूर्णिता ॥८॥

अयोध्यादिपुरीश्लेषेण मथुरा—
महितरामचरित्रपवित्रिता
ललितसारवनीरतरङ्गिता ।

भावसमेधितभास्वरस्वरजुषः तेषाम् । भक्त्युद्रेकेण तारस्वरं पठतामिति-भावः । रजसां रजोगुणानां तमसां तमोगुणानाञ्चापि चतिकृतां विनाशकानाम् । महतां भक्तजनानाम् । हरिकीर्तनं कलिप्रधानं नृत्यवाद्यबहुलं भगवन्नामोच्चारणम् । तस्य ध्वनिषु नादेषु रमते इति तथाभूता । निरमानितं निःशेषेण तिरस्कृतं कल्मषं वृजिनमनया तथाभूता । पापराशिभिरसंस्पृष्टेति भावः ।

८— विबुधाः देवाः तेषां सद्मसु आलयेषु देवमन्दिरेष्वित्यर्थः । पल्लवितं विस्तारयुक्तं यथा स्यात् तथा उल्लसत् चकासत्, यत् ललितं शृङ्गारमधुरैः कथोपकथनैस्तरङ्गितं, भागवतं सुप्रसिद्धं भगवद्गुणाख्यानपरं पुराणम् । तदेव अमृतं पीयूषं तत्सेविभिः तदास्वादपरायणैः । श्रवणासक्तैरिति भावः । विविधैः अनेकधा विभक्तैः, भक्तजनैः भक्तिरसाविष्टमानसैः पौरजनैः,समन्ततः परितः,वलयिता पुंस्त्रीमण्डलोपमण्डलैः परिवेष्टिता । लयितालविघूर्णिता—लयः नृत्य-गीत-वाद्यानामेकतानतारूपं साम्यम् । सोऽस्यास्तीतिलयी । तादृशः यः तालः मूर्च्छनारूपः, करताल-करास्फोटनादिरूपश्च तेन विघूर्णिता सशिरःकम्पं आनन्दनिमीलिता ।

इत आरभ्य स्तवसमाप्तिपर्यन्तं कविना अयोध्यादिसप्तपुरीश्लेषेण मथुरायाः वर्णनमुपक्रान्तमित्यनुसन्धातव्यम्—

९— महितं लोकेषु पूजितं, रामस्य रौहिणेयस्य बलरामस्य, पक्षे रामस्य दाशरथेः । यत् चरित्रं लोकवृत्तं चरितं, तेन पवित्रिता पूता । ललितानि सुन्दराणि, आरवैः कलकलशब्दैः सहितानि सारवाणि शब्दायमानानीत्यर्थः । पक्षे सरय्वां

दशरथस्य पुरीव हरीङ्गिता
शुभरता भरताशयसंस्कृता ॥९॥
सततसंगतसाधुमहोदया-
ऽधिमणिकर्णिकविष्णुपदाञ्चिता ।
स्मरजितो नगरीव शिवोज्ज्वला
सुरुचिरा रुचिराजितनागरा ॥१०॥
गहनसालसमाकलितावने
प्रतिदिनं विकसन्मधुसूदना ।

भवानि सारवाणि सरयूसमुद्भूतानीत्यर्थः । यानि नीराणि जलानि तैः तरङ्गिना संजाततरङ्गा । दशरथस्य राज्ञः पुरी अयोध्या, सा इव हरिणा श्रीकृष्णेन पक्षे कपिमण्डलेन । ईङ्गिता चञ्चलदृष्ट्यादि परीता । शुभे मङ्गलकर्मणि रता अनुरक्ता । भरतो नटः कैकेयीसुतश्च । तस्य आशयेन विभवेन । एकत्र नाट्यकलानैपुण्येन, परत्र भरतस्य असाधारणेन भ्रातृसौहार्देन, संस्कृता भूषिता ।

१०– सततं निरन्तरं, संगताः साधवो मनोहराः, महोदयाः उत्सवारम्भाः यस्यां तथाभूता । काशीपक्षे, सततं संगतः साधुः शोभनः, महोदयः पुण्यजनको योग-विशेषः अस्यामिति । स एष महोदयो नाम पुण्यप्रदो योगविशेषः काश्यां सर्व-दैवास्तीति निर्णयसिन्धुप्रभृतिषु धर्मशास्त्रनिबन्धेषु स्पष्टम् । एवं साधवः साधु-शब्दिताः चतुर्थाश्रमिणः, महोदयाः भाग्यशालिनो यस्यामित्यपि उभयत्र सङ्गम-नीयम् । अधिका प्राचुर्यवती मणीनां मुक्तादिरत्नानां कर्णिका कुण्डलादिकर्णाभरणं येषु, तथाविधैः विष्णुपदैः विष्णुमन्दिरैः, अञ्चिता प्रशस्ता । काशीपक्षे-अधिमणि-कर्णिकम्–काश्यां सुप्रसिद्धस्य मणिकर्णिकातटस्य समीपे विष्णुपदेन एतन्नाम्ना–प्रसिद्धेन, स्थलविशेषेण अञ्चिता समेता । स्मरजितः शिवस्य, नगरी काशीपुरी, सा इव शिवेन कल्याणेन उज्ज्वला रमणीया । काशीपक्षे- शिवेन विश्वनाथाभिधेन ज्योतिर्लिङ्गेन उज्ज्वला भव्या । सुरुचिरा– सुमनोहरा । रुचिभिः अनुरागरसैः राजिताः सुशोभिताः नागराः विदग्धाः यस्यां तथाभूता ।

११– गहनैः घनीभूतैः सालैः पादपैः । 'रसालसालः समदृश्यत' इत्यादि नैषधीयचरितम् । समाकलिता समन्ततः परिवृता । द्वारकापक्षे– गहनैः दुष्प्रवेशैः

यदुपुरीव च सागरसंश्रिता
मधुरसाधुरसा स्फुरदुद्भवा ॥११॥
प्रथितविक्रमरम्यरसाश्रया
सरितमादधती खलु भास्वतीम् ।
स्फुरितधाममहेशमवन्तिका
कविकलाविकलाकलनालया ॥१२॥

सालैः प्राकारैः समाकलिता सर्वतो वेष्टिता । वने कानने, प्रतिदिनं अनुवासरं, विकसन्तः हर्षोत्फुल्लतया परिभ्रमन्तः मधुसूदनाः भ्रमराः यस्यां तथाभूता । पक्षे—अवने इति च्छेदः । तथाच अवने रक्षणे प्रतिदिनं प्रतिदिवसं वीप्सायामव्ययीभावः । विकसन् यतमानः मधुसूदनः श्रीकृष्णो यस्यां तथाभूता । यदुपुरी यादवानां नगरी द्वारका । सा इव सागरसं अगेन गोवर्धनाख्येन पर्वतेन, सह वर्तमानो यो रसः आनन्दः, तं श्रिता संप्राप्ता । एवं सागरैः मृगविशेषैः संश्रिता आवासतया कल्पिता । द्वारकापक्षे—सागरेण समुद्रेण संश्रिता समाश्लिष्टा । मधुरो रमणीयः साधूनां रसो यस्यां तथाभूता । एवं मधुरं हृद्यं साधु स्वादीयः रसं पानीयं यस्यामितिवा । द्वारकापक्षे—मधुरं प्रियं साधुरसं उत्तमं आसवद्रव्यं यस्यां सा इत्यप्युन्नेयम् । स्फुरन् प्रवर्तमानः उद्भवः उत्सवो यस्याम् तथाभूता । पक्षे—स्फुरन् शोभमानः उद्धवः श्रीकृष्णस्य सखा यस्यामिति द्रष्टव्यम् ।

१२—प्रथितः विख्यातः यो विक्रमः श्रीकृष्णकर्तृको दैत्यवधादिरूपः पराक्रमः, तेन रम्या रमणीया, या रसा वसुन्धरा, तस्याः आश्रया आधारभूता । उज्जयिनी पक्षे—प्रथितः विश्रुतः यो विक्रमः विक्रमादित्यनामा संवत्सरप्रवर्तकः पार्थिववंशमुक्तामणिः तस्य रम्याः सुन्दराः ये रसाः शृङ्गारादिरागप्रवृत्तयः तेषां आश्रयः अस्ति अस्याम् । एवं प्रथिताः के जले एकत्र यमुनायां, परत्र शिप्रायां वीनां पक्षिणां ये क्रमाः सञ्चाराः तैः रम्यः सुन्दरः यो रसः रागः तस्य आश्रया शरणीभूतेत्युभयत्र योजनीयम् । भास्वतीं भासमानां खलु सरितं यमुनां शिप्रां च आदधती धारयन्ती । स्फुरितं प्रकाशितं धाम प्रासादं यस्य एवंविधो यो महेशः नृपतिः श्रीकृष्णो वा तं अवन्तिका प्रीणयन्ती । पक्षे—स्फुरितं शोभितं धाम पदं यस्य एवंभूतो यो महेशः महाकालाभिधानः तं अवन्तिका स्पृहयन्ती । 'अवन्ती' इति नाम्ना प्रसिद्धा मालवदेशस्य राजधानी उज्जयिनी च । कविः परमेष्ठी, तस्य या कला

अधिगताऽधिक॰

सदनुकम्प॰

मुदितमुक्तिसतीवरकाञ्चिका

सुरचितारचिताघविनाशन॰ ।

सृष्टिचातुर्यरूपा तस्याः अविकलं समग्रं यत् आकलनं तस्य आलया गेहभूता । एवम्-के यमुनाजले शिप्राजले वा वीनां पक्षिणां ये कलाः अव्यक्तमधुराः शब्दाः तेषां अविकलं यथायथं यत् कलनं ग्रहणं तस्य आलया शरणीभूता । पक्षे-कवीनां कालिदासादीनां याः कलाः कवित्वसाम्राज्यवैभवायमानाः तेषां अविकलं वास्तविकं आमूलचूडं च यत् आकलनं, वाग्विलासानां परिभावनं, तस्य आ समन्तात् लयः संश्लेषः अस्ति अस्यामिति तथाभूता ।

१३—अधिकदक्षिणमण्डलं-अधिकाः अनेके ये दक्षिणाः उदारपुरुषाः, तेषां मण्डलं वर्गं, अधिगता संप्राप्ता । काञ्चीपक्षे-अधिकं सप्तपुरीणां मध्ये सर्वापेक्षया विशेषरूपेण, दक्षिणमण्डलं दक्षिणां दिशं, अधिगता संप्राप्ता । यतः काञ्ची हि दक्षिणभारते विराजते । ज्योतिर्गणनाक्रमेण तदिदं सोपपत्तिकमपीति परीक्षणीयम् ।

अयमिह अक्षांशगणनाक्रमः—

सप्तपुरीणां नामानि				अक्षांशाः
काञ्ची	...	...	...	१२°।५६′
द्वारका	...	...	...	२२°।१५′
उज्जयिनी	...	...	...	२३°।१′
काशी	...	...	...	२५°।२०′
अयोध्या	...	...	...	२६°।४८′
मथुरा	...	...	...	२७°।२६′
हरद्वार	...	...	...	२६°।५५′

एवमिह दर्शितेन गणनाक्रमेण काञ्च्याः सर्वतो दक्षिणत्वं गणितगोलसिद्धम् ।

सती प्रशस्ता अनुकम्पा दया येषां ते सदनुकम्पाः,दयाशालिनः तैः कृता विहिता या स्थितिः अवस्थानं तया शालते शोभते इति सदनुकम्पकृतिस्थितिशालिनी ।

.णो

.विबुधदक्षनिरूपितसत्क्रिया ।

.वती महतां बहुमायका-

गमहिता महिता श्रुतशासनैः ॥१४॥

पक्षे, सती वर्तमाना । कम्पायाः अनु इत्यनुकम्पम् । कम्पानद्याः निकटे कृता विहिता या स्थितिः तया शालते इति तथाभूता । अत्रेदं मूककविसार्वभौमस्य मूकपञ्च-शतीपद्यं काञ्च्याः कम्पासत्वे मानम् –

'कम्पातीरवनान्तरं विदधती कल्याणजन्मस्थली

काञ्चीमध्यमहामणिर्विजयते काचित् कृपाकन्दली ॥'इति।

मुदिता प्रसन्नमना मुक्तिरूपा या सती साध्वी तस्याः वरा अभीष्टा काञ्चिका एकयष्टिः । 'चन्द्रहारेति' लोकप्रसिद्धमाभूषणम् । उक्तञ्चान्यत्र—

'एकयष्टिर्भवेत् काञ्ची मेखला त्वष्टयष्टिका ।

रशना षोडश ज्ञेया—इति ।

पक्षे–मुदिता मोदवती मुक्तिरूपा सती यस्यां एवंभूता या वरा श्रेष्ठा काञ्चिका काञ्चीति सुप्रसिद्धा नगरी । सुरचिता सुष्ठु यथा स्यात् तथा रचिता निर्मिता । एवं सुरैः देवैः पण्डितैश्च चिता व्याप्ता । रचिताघविनाशना–रचितं संपादितं अघानां पापानां दुःखानाञ्च विनाशनं संहारः अनया इति तथाभूता । एतदुभयं उभयत्र समानतया योजनीयम् ।

१४—स्फुरन् शोभमानः उदग्रः उद्गतमग्रं यस्य तादृशः उन्नतमः यः सुपर्वतः पर्वतेषु रमणीयो गोवर्धनः तस्य रङ्गिणी अनुरागवती । एवं स्फुरन्ती उदग्राणां उन्नतानां, पर्वणां उत्सवानां, तरङ्गिणी नदी यस्यां तथाभूता इत्युभयत्र योजनीयम् । हरद्वार-पक्षे स्फुरन् उदग्रः उन्नतः यः सुपर्वतः शोभनो हिमालयः तत्र रङ्गिणी रागवती भागीरथी यस्यां सा । विबुधेषु विद्वत्सु ये दक्षाः चतुराः तैः निरूपिता संघटिता सत्क्रिया सत्काररूपमातिथ्यं यस्यां तथाभूता । हरद्वारपक्षे–विबुधो देवः सचासौ दक्षश्चेति विबुधदक्षः दक्षप्रजापतिः, तेन निरूपिता अनुष्ठिता सत्क्रिया यज्ञादिसंभाररूपा यस्यां तथाभूता । व्रजं गोष्ठं मथुरासमीपस्थः प्रदेशविशेषश्च तद्वती व्रजवती । हरद्वारपक्षे-

अमरराज१५.

भुजग१६.

मधुपुरीप्रतिसद्ममनोहर-

नवसुधा वसुधामलभूष१७.

॥ इति मथुरा-माधुरी ॥

व्रजाः प्रशस्ताः पन्थानः सन्तियस्यामिति व्रजवती प्राशस्त्ये मतुप्। मायैव मायका स्वार्थे कः। बह्वी चासौ मायका च बहुमायका। महतां महापुरुषाणाम् बहुमायका प्रचुरानुरागवती। तथा धनादिसंपत्तिप्राचुर्येणापि बहुमायकात्वमनुसन्धेयम्। पक्षे-अघटनसाधिका या महती शक्तिः तत्स्वरूपिणी मायेति नाम्ना पुराणादिषु प्रसिद्धा पुरी। या सांप्रतं हरद्वारेतिनाम्ना प्रसिद्धिं भजते। इहेदं सप्तपुरीणां परिचायकं कस्यचित् पद्यम्-

'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥'

आगसे पापाय पापकारिणे वा अहिता प्रतिकूला। आगमाय आगमोक्त-क्रियाकलापादिसंपादनाय आगतजनतायै वा हिता हितोपपादिका। श्रुतं शास्त्रं तस्य शासनैः उपदेशैः महिता समृद्धा।

१५-अमराणां राजा इति अमरराजः देवराजो इन्द्रः। समासान्तष्टच्। तस्य या पुरी अमरावती सा इव। वज्रमेव वज्रिका, शोभना वज्रिका यस्यामिति तथाभूता। एकत्र वज्रं हीरकम् परत्र इन्द्रस्यायुधम्। भुजगराजपुरी काशीपुरी सा इव सुन्दराः भोगिकाः विलासिनः पक्षे सर्पाश्च यस्यां तथाभूता। मधुपुरी मधो दैत्यस्य पुरी मधुरेति लोके प्रसिद्धा। प्रतिसद्म प्रत्यावासं, मनोहरन्ती चेतश्चमत्कुर्वती। नवसुधा नवा नवीना या सुधा 'चूना' इति हिन्दीभाषायां प्रसिद्धं गृहलेपनद्रव्यम्। सा अस्ति अस्यामिति तथाभूता। वसुधायाः वसुन्धरायाः अमलं दिव्यं यत् भूषणं तत्स्वरूपा विजयते।

॥ इति मथुरा-माधुरी ॥

. . ।

.पनिष्ठा

सदात्मदृष्टिः परितोषपुष्टिः ।

. एता निवसन्ति यत्र

स वर्तमानोऽपि न लिप्यतेऽघैः ॥१॥

आत्मोपदेशः ।

१—शास्त्रप्रतिष्ठा । शिष्यते अनेन इति शास्त्रम् । 'शासु अनुशिष्टौ' । त्रयीतरङ्गितः आप्तजनैरुपदिष्टः अङ्गोपाङ्गतया प्रसिद्धः हितानुशासनपरो ग्रन्थराशिः । तस्य प्रतिष्ठा गौरवसंरक्षणम् । यतः शास्त्रादेव यावत्कर्तव्यकर्मणां निर्णय अवधार्यते । अतएव भगवान् वासुदेवः—

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥'
(गी० १६. २३-२४)

गिरति अज्ञानं, गृणाति उपदिशति च तात्त्विकमर्थमिति गुरुः शास्त्ररहस्योपदेष्टा । तस्य वाक्येषु उपदेशेषु निष्ठा एवमिदमिति निश्चयारूढतया अवस्थानम् । तथा च मुण्डकश्रुतिः—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।' इति ।

एवं भगवद्गीतास्वपि—

'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥' इति ।

सर्वदा सर्वस्मिन्नपि काले, आत्मनि दृष्टिः आत्मदृष्टिः । स्वात्मपरमार्थचिन्तनमिति यावत् । एवं व्यवहारदशायां आत्मनः कर्तव्यतया इष्टानां क्रियमाण-करिष्यमाण-

उद्देश्यभेदेन ।
शास्त्राण्यनः
तत्रास्तिकैराद्रियमाणमेव
विभावनीयं परमार्थसिद्धय

कर्मणां हृदयसाक्षिकं वास्तविकं वा निभालनम् । तत्र च मानुषस्वभा..
दोषसंक्रान्तेः यथाकालं यथान्यायं च शुद्धेनान्तःकरणेन परिमार्जनम् । तत
सुहृद्भूत्वोपदिशत्याचार्यः–

'अहन्यहनि वीक्षेत कृतं चरितमात्मनः ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु तुल्यं महात्मभिः ॥' इति ।

तदेवमात्मन आलोचनं कुर्वता सर्वभावेन अप्रमादिना भवितव्यमिति तात्पर्यम् । परितोषस्य सर्वविधायाः संतोषवृत्तेः पुष्टिः पोषणम् । न पुनरसदुपायानवलम्ब्य लुब्धकबुद्ध्या केवलमर्थार्जनाय धावनमिति । एतदभिप्रायेणैव मनुरप्याहस्म–

'संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥' इति ।

पतञ्जलिरपि–'संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ।' इत्युपदिदेश । तत इदमपि न विस्मर्तव्यम्–

'यद् यत् परवशं कर्म तत् तद् यत्नेन वर्जयेत् ।
यद् यदात्मवशं तु स्यात् तत् तत् सेवेत यत्नतः ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥' इति ।

तदित्थं लोकयात्रामनुवर्तमानेन यत्र क्वापि तिष्ठता यथालाभसंतुष्टेन भाव्यमिति भावः । एता अनुपदं परिगणिताः, चतस्रो वृत्तयः, यत्र यस्मिन् पुरुषपुंगवे निवसन्ति, स अघैः पापप्रकृतिभूतैः दुःखादिभिः, वर्तमानोऽपि तदन्तःपातमनुभवन्नपि, तैः न लिप्यते न संस्पृश्यते । प्रत्युत अम्भसा पलाशपत्रमिव निर्लिप्तमेवात्मानमनुपश्यति ।

२–उद्देश्यस्य चिकीर्षितुमिष्टस्य, भेदेन विधेयस्य विधातुमुपात्तस्य कार्यजातस्य भेदो भवति । इदमत्र तात्पर्यम्–

…युदेति ।

…ङ्कमुक्ता

…दाता धिषणा प्रमाणम् ॥ ३ ॥

…तयैव लोके व्यवहाराणां प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा दृश्यते । सर्वेषाञ्चा-…णां मूले यत्किमप्युद्देश्यतया अवश्यमन्तस्तिष्ठतीति सर्वैरेवानुभूयते । तत…द्देश्यस्य भेदोपगमे विधेयमपि स्वभावतया भिद्यत एव । तदेवमुद्देश्यानुसारेणैव अनेकप्रस्थानभिन्नानां शास्त्राणामवतारः । तेषु च यथाप्रसङ्गं परस्परं वैषम्यसंपाते इदं ग्राह्यमिदं वेति अन्यतरपक्षप्रतिष्ठाने प्रतिभावतो मन्दप्रज्ञस्य च महद्वैश-समुपतिष्ठते । उभयत्र यत्किंचिद् गमकस्य अवश्यंभावात् । एवमादिष्ववसरेषु आस्तिकैः ईश्वरोन्मुखै दूरदर्शिभिः, आद्रियमाणं कर्तव्यतया निश्चीयमानं कर्म, परमार्थसिद्ध्यै तत्त्वनिर्णयोपलब्ध्यै विभावनीयं सिद्धान्ततया सङ्गमनीयम् ।

३–अभिनिवेशो नाम यस्य कस्यचिद् वस्तुनः सदसद्रूपपरिचयानन्तरमपि क्वचित् गतानुगतिकतया क्वचिच्च अहंभावोद्रेकेण इदमेवं भवेदित्याग्रहग्रहिलतया अवस्थानम् । तत्र प्राधान्येन व्याख्याबलमेव सहकारिभावं भजते । तदाधारेण च यद् यथा प्रतिपादयितुमिष्यते तत् तथा प्रतिपाद्यते । यथा वस्तुदृष्ट्या एकमपि ब्रह्मसूत्रं व्याख्यानरङ्गभूमिष्ववतीर्णं मतिजम्बालेषु निमग्नं सहस्रशाखमिवाभूदिति नाति-रोहितं मार्मिकाणाम् शास्त्रवेदिनाम् । दर्शनान्तरेष्वप्येवंभूतानि निदर्शनानि वहुत्र सुलभानि प्रेक्षावद्भिः स्वयमुत्प्रेक्षितुं सुशकानीति किमत्र निदर्शनप्रयासेन । तदेवं प्रौढिवादसहकृतेन प्रकृति-प्रत्ययादिमूलकेन व्याकरणादिप्रपञ्चोपस्थापनेन, क्वचिच्च शास्त्रान्तरसंवादानुपपत्तिप्रदर्शनेन च स्वाभिमतार्थस्य स्थापनायै यावद्व-लमनुधावनं क्रियते । येन च वस्तुस्थितिरन्यथान्यथा नीयमाना प्रमेयस्वरूपभ-ङ्गाय तद्विप्रलोपाय वा परिणमति ।

एवंभूते व्यतिकरे तटस्थेन शास्त्रसिद्धान्तजिज्ञासुना विसंवादपरीते शास्त्रिके मार्गे कः पन्था आश्रयणीयः, कथञ्च तत्र वर्तितव्यमिति प्रश्नं समाहितुमुत्तरार्ध-मारभते–

तत्र विसंवादव्याकुलीभूतेऽपि शास्त्रसमये, समुपनते च युक्तायुक्तपरीक्षणे । मात्सर्यकलङ्कमुक्ता–अन्यशुभद्वेषो मत्सरः, तस्य भावो मात्सर्यं असहिष्णुत्वमिति यावत् । तदेव कलङ्कः मलिनत्वसंसर्गः, तेन मुक्ता

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ ४ ॥

असंस्पृष्टा । मुक्तावदाता–मुक्तेव अवदाता मौक्तिकमिव धवलवर्णा । सत्त्वगुणस्निग्धेति भावः । धिषणा वस्तुतत्त्ववेदिनी प्रज्ञा एव प्रमाणम् – आत्मसाक्षिकतया प्रमाणभूता । तत्र च स्वहृदयसंवाद एव परं प्रामाण्यमिति तात्पर्यम् । एष एव च राजमार्गः । यत एतदन्तरेण नान्यत् किमपि विनिगमकान्तरं हृदयसंवादसौष्ठवाय अलङ्कर्मीणमिति मन्वादिमहापुरुषाणां वाक्यबलेनाप्यनुसन्धेयम् । अत्रेदमभिज्ञानशाकुन्तलीयपद्यमवतरति–

'सतां हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।' इति ।

४–पूर्वोक्तस्य विसंवादस्य निरासाय, स्वोक्तार्थस्य च पूर्वेषामपि संमतत्वेन प्रकृतार्थे महाभारतीयं पद्यं किंचित्परिवर्त्य उपोद्घलकतयोपन्यस्यते–'तर्कोऽप्रतिष्ठ इत्यादिना । तर्कलक्षणञ्च यथाह गौतमः–

'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।'
(न्या. द. १–४०)

तर्कस्य चैष स्वभावो यदयं एकेनोत्प्रेक्ष्यमाणः परेण बाध्यते, तेनाप्युत्प्रेक्ष्यमाण अन्येन, ततोऽपीतरेण इत्येवं यथोत्तरं उपमर्दसंगरेषु व्याहन्यमानो नवनवां भूमिकामाविष्कुर्वन् नैकत्र क्वचित् प्रतिष्ठां लभते । अतएव भगवता बादरायणेन–

'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।' (वेदान्तद. २. १. ११) इति सूत्रयता तर्केष्वनास्था प्रतिपादिता । तत्र लोकैरुत्प्रेक्षितस्तर्को यावद् भूत-भौतिकपदार्थेषु प्रसज्यमानो नैवास्माकमिह लक्ष्यभूतः । स तु स्वभावानुसारेण यथायथं संचरतां तावत् । परमागमिके वस्तुनि यदस्य स्वैरविजृम्भणं तन्मूलप्रच्यावाय भवन् वाच्यताकोटिष्वन्तर्भवति । तादृशश्चायं तर्कः आगमप्रवणैराचार्यैः सुपरीक्ष्य प्रत्याख्यातः । तर्ककोटीनामुद्गमः तासां भङ्गप्रकारश्च प्रकृतसूत्रे शारीरकभाष्ये सविस्तरमुपपादितो दर्शनार्हः । तत एव

(महाभा. वनप. ३१३ अ. १७ श्लो.)

अनेकशास्त्रार्थविमर्शनेन
तत्तन्महाव्यक्तिनिदर्शनेन ।
त्रैकालिकज्ञानविकस्वरेषु
महाजनत्वं गुरुषूपदिष्टम् ॥ ५ ॥

मनुस्मृतिकारः–

'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'

इत्येवं निरदिक्षत् । यत्पुनरनेनैव–

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।'

इत्यादिकं निरूप्यते तत्तु सत्तर्कविषयं, विनेयानां वस्तुस्वरूपावगमायातितरामुपादेयं समाद्रियत एवेति न तत्र विप्रतिपत्तेरवसर इति संक्षेपः ।

श्रूयत एव हिरण्यगर्भादिगुरुपरम्परया नतु केनचित् क्रियत इति श्रुतिः, अपौरुषेयी वाक् । तासु शब्दतोऽर्थतश्च विभिन्नता प्रतिपाद्यानां परस्परं विसंवादः । स च संहिताब्राह्मणादिग्रन्थेभ्यः विशिष्य वेदशिरोभागतया प्रसिद्धेभ्यः उपनिषदादिभ्यश्च सुप्रतीत एव । आम्नायार्थमधिकृत्य सायनाचार्याणां ऋग्वेदभाष्यभूमिकादौ कृतं विवेचनं श्रौतमार्गानुयायिनां सुविदितमेवेति किमत्र पौनरुक्त्येन । ऋषति आम्नायं पश्यति इति ऋषिः । अयमस्माकं आर्यावर्तः प्रधाना ऋषीणामावासभूमिरिति श्रुति-स्मृति पुराणपरम्परातः सुव्यक्तमेव । विभिन्नेषु कालेष्वाविर्भूतानाममीषां महाविभूतीनां हृदयागारेष्वाविर्भवन्ती वैदिकवाङ्मयस्य शब्दार्थरूपा महती संपत्तिर्भिन्नप्रकृतिका रहस्यार्थबहुला चेति प्रायेण सर्वेषामत्रविषये ऐकमत्यमेव परीक्ष्यते । एवञ्च रहस्योपदेशकानां ऋषीणां मतसंपाते कतरत् प्रमाणभूत इति प्रश्ने इदम्परतया न किमपि वक्तुं पार्यते । न वा तेष्वप्रामाण्यमास्थातुं शक्यत इत्युभयतः पाशारज्जुः । एवंविधे व्यतिकरे आस्तिकैः महाजनक्षुण्णेनैव पथा गन्तव्यमित्युत्तरार्धेन सिद्धान्तयति । अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरूपस्य भगवतो धर्मवृषस्य तत्त्वं गुहायां हृदयगह्वरे निहितं प्रतिष्ठितम् , न परमार्थतो ज्ञातुं सुकरम् । अतः

यदेतकत्पुत्रकलत्रमित्र-
विद्वेष्युदासीनचराचरं हि ।
तन्नामरूपाख्यविकारवर्जं
ब्रह्मेति वेदान्तविदो विदन्ति ॥ ६ ॥

गुर्वादिरूपो महाजनः, येन पथा गतः व्यवहारपथं प्रविष्टः, स एवाध्वास्माकमपि गन्तव्यतयाभिमत इति शास्त्रनिष्कर्षः ।

५–अनेकानि अङ्गोपाङ्गतया बहुलानि यानि शास्त्राणि तेषु च प्रतिपादिताः ये अर्थाः प्रमेयावताराः, तेषां विमर्शनेन पूर्वापरसङ्गतिकेन यथायथमालोचनेन, एवं तत्तन्महाव्यक्तीनां महाप्रभावाणां भगवद्रामकृष्णादीनां एवं गुरुपरम्पराप्रविष्टानां अलौकिकप्रतिभावतां भगवद्वाल्मीकि-व्यासप्रभृतीनां तपोनिधीनां निदर्शनेन, संवादमापन्नेन तत्तदुदाहरणजातेन । त्रैकालिकज्ञान विकस्वरेषु–भूत-भवद्-भविष्यतश्चार्थराशीन् करतलामलकवदालोकयत्सु योगवैभवसंपन्नेषु । महाजनत्वं महापुरुषत्वरूपस्य वाच्यार्थस्य विश्रमः, ततः प्रतिफलन्त्याः लोकोत्तरप्रतिभायाः हृदङ्गमत्वञ्च । गुरुष्वेव उपदिष्टम् समाख्यातम् । एतान् विहाय कोऽन्यो महाजनत्व-रूपां गुर्वीमर्थव्याप्तिमात्मनि सन्धत्त इति एत एवास्माकमग्रेसराः पथप्रदर्शकाः महागुरवो वा व्यपदेष्टुमर्हा इति तात्पर्यम् ।

६–यत् एतकत् दृश्यमाणं जगत् तदन्तर्वर्तमानश्च प्रातिस्विकः पुत्रकलत्रादिरूपोऽन्तरङ्गभूतः कौटुम्बिकः परिच्छदः, यो वा विद्वेष्युदासीनादिरूपो बहिरङ्गभूतः परिकरः । किंवा उभयोः समष्टिरूपं यत् चराचरं, जडाजडस्वभावतया सृष्ट्युपहितो यावद्वस्तुसंभारभुक्तो लोकसर्गः, स सर्वोऽपि नामरूपाभ्यां वर्जितः ब्रह्मपदवाच्यतामेव प्रथयति । जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति इति षड्भावविकारा एव नामरूपप्रथात्मकं सृष्टिव्यवहार-मुद्दिशन्ति इति भावः । नामरूपविलये ब्रह्मैव केवलमवशिष्यते । यं वेदान्तिनः औपनिषदा वा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्येवमादि श्रुति-संवर्गैः ब्रह्मेति परिचिन्वन्ति । तदित्थं ब्रह्मस्वरूपतोऽतिरिच्यमानं सर्वमपीदं-नामरूपात्मकं जगत् असदपि सदिव प्रतीयमानं न खलु परमार्थसदिति तात्पर्यार्थः ।

तदात्मरत्नं न बहुश्रुतेन
न वा तपोराशिबलेन लभ्यम् ।
प्रकाशते तत्तु गुरूपदिष्ट-
ज्ञानेन जन्मान्तरखण्डकेन ॥ ७ ॥

जात्या गुणेन क्रियया च सम्यग्
गतप्रमादो विदधद्विधेयम् ।

७—तदिदं प्राक् प्रतिपादितं आत्मरत्नं, रत्न इव महार्घं स्वरूपख्यातिरूपं, बहुश्रुतेन अनेकप्रस्थानबहुलेन शास्त्राडम्बरेण, न वा तपोराशिबलेन-कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतोपवासैरथवा आगमोद्दिष्टैः पञ्चधारोपासनैः तदङ्गभूतैर्जप-पारायणादिभिर्वा आसादयितुं शक्यते। तत एव गीतासु—नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया' इत्येवमादि गीतम् (भग. ११।५३) । किंतु केवलं तत् गुरुपदिष्टेन गुरुणा प्रतिबोधितेन । ज्ञानेन तत्त्वोपदेशेन । प्रकाशते यथायथमाविर्भवति । यस्य ज्ञानरूपस्य प्रकाशैकमूर्तेरधिगमे संसरणैकधर्माणो जन्म-जरा-मरणादयः स्वतः पराभूताः न पुनरुद्भवायोत्सहन्ते ।

८—जात्या—जायते प्रादुर्भवति इति जातिर्ब्राह्मणत्वादिरूपा । 'जनी प्रादुर्भावे' । जातिप्रभवेण अतिशयेन । स चायमतिशयः शुक्रशोणितसमारब्धः संस्कारशाणोल्लीढो वर्णधर्मतया परीक्षणीयः । न चायं जात्युत्कर्षः केवलं मनुष्यजातिनिष्ठ एव यावद् गजाश्वादिचेतनेषु एवमाकरोद्भवेषु रत्नाद्यचेतनेष्वपि समानभावेनाहितो द्रष्टव्यः । अत्रेमानि वर्णाश्रमसूत्राणि—

'कूपतडागादिजलवद् ब्राह्मणादिजाति भिन्नस्वभावा ।'
अश्वादिवज्जन्मनैव जातिः, कर्मणा तु विशिष्यते ।'
न ह्यवयवसाम्येऽपि कर्मणा कौपं वारि नादेयं भवति ।'
एतेन वर्णा आश्रमाश्च व्याख्याताः ।
(१ आह्निक. सू. ३. ४. ५. ६)

गुण्यते आमन्त्र्यते इति गुणः शीलादिरूपः । 'गुण आमन्त्रणे' । करणं क्रिया, व्यापारः । तदेवं जातिगुणक्रियासमारब्धेनोत्कर्षेण यथायथं व्यवहारद-

लभेत यत्तेन सदैव तुष्यन्

यतेत भाग्यार्पितकार्यकायः ॥ ८ ॥

शामवतीर्णः । गतप्रमादः मानुष्यकसुलभैः शारीरैः मानसैश्च प्रमादैःपरिवर्जितः । कर्तव्यकर्मस्वन्तः पातिनीभिस्त्रुटिभिर्विवर्जित इति यावत् । विधेयं लोकयात्रास्वावश्यकतया समुपनतं तत्तत्कार्यजातं, विदधद् यथायथं संपादयन् । यल्लभेत परिश्रमस्य प्रतिफलभूतं बह्वल्पं वा जीवननिर्वाहार्थं यत्किमप्यासादयेत् , तेनैव संतुष्येत् । यतः परिश्रमानुरूपः संपल्लाभोऽपि भाग्यायत्त एव इति न तत्र पराश्रिते वस्तुनि उद्विग्नेन अन्यमनस्केन वा भवितव्यम् । प्रत्युत भाग्ये अदृष्टादि नानानामव्यवहार्ये दैवे, अर्पितः न्यस्तः कार्यकायः उच्चावचस्य कर्मणः प्रसरो येन तथाभूतः सन् , यतेत उद्योगयन्त्रितो वर्तेत । उपपादितञ्चैतत् पुष्पाञ्जलिकृता चातुर्वर्ण्यशिक्षायाम्–

'उद्योगशस्त्रप्रणयीप्रमृष्ट-
धीदर्पणालोकितकार्यकायः ।
बम्भ्रम्यमाणो वसुधान्तरेषु
समीहितार्थान् क्रमशोऽभ्युपैति ॥
उद्योगयन्त्रे परिवर्तितेऽपि
चेद्दैवयोगान्न फलोदयः स्यात् ।
तथापि यत्नः करणीय एव
प्रारब्धशय्याशमितक्रमेण ॥'

(चातु. शि. त्रिवर्ग. १३९. १४०)

तथा दशकण्ठवधाख्ये चम्पूरत्नेऽपि–

'सर्वमेव हि संसारे पौरुषादेव लभ्यते ।
न तादृक् किंचिदप्यत्र यदलभ्यमुदीर्यते ॥
शास्त्रोपदिष्टमार्गेण यद् देहेन्द्रियचेष्टितम् ।
तत्पौरुषं तत्सफलमन्यदुन्मत्तजृम्भितम् ।' इति ।

एवम्–

'न यातव्यमनुद्योगैः साम्यं पुरुषगर्दभैः ।
उद्योगो हि यथाशास्त्रं लोकद्वितयसिद्धये ॥' इति ।

निष्कामचित्तेन किलैकतानः
परामृशन्वस्तु गुरूपदिष्टम् ।
उदारभावो रचयेत सौख्यं
परं परेषामपि किं स्वनिष्ठम् ॥ ६ ॥

॥ इति आत्मोपदेशः ॥

इत्ययोध्यापरप्रान्तवर्तिपण्डितपुरीवास्तव्यद्विवेदो-
पाख्याचार्यश्रीसरयूप्रसादसुतमहामहोपाध्यायश्रीदुर्गाप्रसादद्विवेद-
विरचिते दुर्गापुष्पाञ्जलौ द्वितीयो विश्रामः ।

समाप्तश्चायं दुर्गापुष्पाञ्जलिः ।

शं वो भवतु ।

६-निष्कामचित्तेन कामनाबहिर्भूतेन चेतसा, परमेश्वरसमर्पितेन अन्तःकरणेन च । एकतानः अनन्यवृत्तिर्भवन्, गुरूपदिष्टं गुरुणाभ्यनुज्ञातम् । वस्तु-परमार्थैकरूपं ध्येयम् । परामृशन्- यथोपदेशं अविच्छिन्नं विभावयन् । उदारभावः रागद्वेषादिभिरनभिभूतः सर्वभूतहितैषितया वा प्रवृत्तः । अत इदमप्यालोचनीयम्-

'अविद्वेषेण सर्वेषां कुर्वन् कर्म यथाकुलम् ।
सभाजयन् महेशानं विन्देन्निःश्रेयसं ध्रुवम् ॥' इति ।

परेषां अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभावप्रतिष्ठानाम् लोकानाम् । परं सौख्यं, आत्यन्तिकं मनःप्रसादमात्मसंतोषं वा रचयेत पुरस्कुर्यात् । किं पुनः स्वनिष्ठमात्मगतम् । यो हि विद्वेष्युदासीनानपि प्रसादयितुं समर्थो भवेत्- तस्मिन्नन्तःकरणसंपृक्तः सुखराशिरनुरक्त इव प्रयासमन्तरेणैव प्रतिफलेदिति को वा विशेषः स्वस्मिन् परस्मिन् वेति शिवम् ।

जयति जगति संविदात्मिकाया-
चरणसरोजरजोद्भवः प्रसादः ।
अभिमतकरुणाभरैर्यदस्या
स्तवविवृतिः परिपूरिता मयैषा ॥१॥

इति परिमलगर्भ एष हृद्यः
स्तुतिकुसुमैः कलितोऽञ्जलिः प्रकामम् ।
दिशतु सुमनसां मनःप्रसादं
स्तवनरसालशिखास्तु पुष्पिताग्रा ॥२॥

शुभविक्रमाब्दरविविंशतिके (२०१२ वि.सं.)
मधुमाधुरी – सुभगभावचिते ।
प्रमिताक्षरापि विशदार्थवती
मम भारती गुरुमुदेऽस्तु सती ॥३॥

इत्ययोध्यापश्चिमप्रान्तवर्तिपण्डितपुरीवास्तव्यद्विवेदोपाख्याचार्यश्रीगिरिजाप्रसादसुतगङ्गाधरद्विवेदकृतिषु पुष्पाञ्जलिपरिमलः संपूर्ण इति शिवम् ।

अथ परिमलनिर्मातुः परिचयः-

अस्ति प्रशस्तजनता जनतापहन्त्री
प्रत्याशभास्वरमणी रमणीयकान्तिः ।
उद्दण्ड-दण्डधरयोद्धृशतैरयोध्या-
योऽध्येति नाम नगरी नगरीषु रम्या ॥१॥

चेतो हरन्ति मृदुकम्पनकेलिकम्रा
यस्या उदक्परिसरे सरयूतरङ्गाः ।
एभ्यः करालकलिकालमलाभिषङ्ग-
मूलावसादनकृते स्पृहयन्ति लोकाः ॥२॥

विद्योतते यदुपकण्ठमुदारधाम्नि
नागेश्वरः स भगवान् दयमानमूर्तिः ।
यो गल्लनाद-सरयूजल-बिल्वपत्रै-
रभ्यर्च्यते जनतया नतया समन्तात् ॥३॥

यस्यामसीममहिमा महिमानपूर्व-
माराध्यते स पुरनायक आञ्जनेयः ।
रामाज्ञया सकललोकदिदृक्षयेव
य स्तुङ्गहर्म्यनगमेत्य भृशं चकास्ति ॥४॥

साकेततो वरुणदिक्कृतसन्निवेशा
भ्राजिष्णु-साम्बशिवमन्दिरमञ्जुगर्भा ।
नानाद्रुमव्रतति-कुञ्जमनोऽभिरामा
सा भाति पण्डितपुरी मम जन्मभूमिः ॥५॥

अनन्यसाधारणधर्मकर्मा
य आगमादिश्रुतपारदृश्वा ।
स्फुरत्प्रभावः प्रपितामहो मे
जनादृतः श्रीसरयूप्रसादः ॥६॥

सरस्वतीविभ्रमरङ्गभूमिः
कविः परज्योतिनिविष्टचेताः ।
दुर्गाप्रसादाख्यपितामहो मे
चकार यो नैकविधान् निबन्धान् ॥७॥

सौभाग्यसौजन्यगुणैरुदारः
साहित्यसेवी गणितागमज्ञः ।
अनेकभाषाकुशलश्चकास्ति
मचातपादो गिरिजाप्रसादः ॥८॥

आस्ते स विद्याविनयावदातो
ज्यायान् महादेव इति प्रसिद्धः ।
मयि स्फुरत्स्नेहरसोदयैर्यः
सोदर्यसौभाग्यमभिव्यनक्ति ॥९॥

तस्यानुजः शास्त्ररसानुविद्धो
गङ्गाधरो ज्ञानसतृष्णवृत्तिः ।
यश्चन्द्रचूडस्मरणाप्तकामः
कुलश्रियः सौभगमादधाति ॥१०॥

जागर्त्ति योऽसौ जयपत्तनेऽस्मिन्
गीर्वाणविद्यालय राजकीयः ।
अध्यापयन् छात्रगणानमुष्मिन्
निर्मत्सरप्रेमपदं प्रयातः ॥११॥

यो ब्रह्मपुर्यां नगरोपकण्ठे
'सरस्वती-पीठ' कृतप्रतिष्ठः ।
यत्रोल्लसद्ग्रन्थचयैरनेकै–
र्विपश्चितः स्वान्तसुखं लभन्ते ॥१२॥

शं वोभवीतु ।

परिमल में उद्धृत आचार्यों, कवियों
तथा
ग्रन्थों की अकारानुक्रमणिका ।

]